लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला-2

लोकस्मृति

विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी-221007

लोकविद्या और लोकविद्या जन आन्दोलन

औद्योगिक युग ने ज्ञान को स्कूल-कालेज में बांध दिया है, जिसके चलते जो लोग स्कूल कालेज नहीं जाते उन्हें अज्ञानी समझा जाने लगा है। साफ़ शब्दों में कहे तो ज्ञान पर स्कूल-कालेज के ज्ञान का एकाधिकार हो गया है और इनके बाहर ज्ञान की अन्य सभी धाराओं और विधाओं को कम दर्जे का ज्ञान अथवा अज्ञान करार दिया जाने लगा है। ज्ञान-धाराओं में गैर-बराबरी समाज में गैर-बराबरी का आधार बनती है और गरीबी, अशिक्षा और अन्याय का स्रोत भी बनती है।

हमारे समाज के किसान, हर तरह के कारीगर, आदिवासी, मरम्मत और सेवा का कार्य करने वाले, छोटे-छोटे दुकानदार, महिलाएं, लोक कलाकार, आदि मिलकर समाज का 90 फीसदी से ज्यादा हिस्सा हैं और ये सब मिलकर जो उत्पादन और सेवा समाज को देते हैं उसका ज्ञान वे स्कूल-कालेज से नहीं बल्कि समाज से ही हासिल करते हैं। इसी ज्ञान के बल पर वे श्रेष्ठ गुणवत्ता का कार्य कर पाते हैं, अपनी जीविका चलाते हैं और समाज की ज़रूरतों को भी पूरा करते हैं। **इनका ज्ञान लोकविद्या कहलाता है।**

लोकविद्या समाज में बसती है। इसे किसी किताब, जाति, धर्म, ग्रंथालय, विश्वविद्यालय अथवा कम्प्यूटर में बाँधा नहीं जा सकता। यह समाज में ही जिंदा रहती है और लोगों के अनुभवों, उनकी तर्कबुद्धि व समाज की ज़रूरतों के हिसाब से इस तरह से नवीन और विकसित होती रहती है कि जीवन सतत् प्रकृति की लय को हासिल करे। लोकविद्या किसी भी अर्थ में स्कूल-कालेज के ज्ञान से कम दर्जे की नहीं है।

खुशहाल समाज, जिसमें व्यवस्थागत गरीबी, गैर-बराबरी, अशिक्षा, अन्याय और अशांति न हो, के निर्माण का आधार लोकविद्या की प्रतिष्ठा और ज्ञान की सभी धाराओं के बीच भाईचारा होने में है। इस लक्ष्य को साकार करने में **लोकविद्या जन आन्दोलन** अपनी भूमिका देखता है। यह एक ज्ञान आन्दोलन है। लोकविद्या भाईचारा विद्यालय, लोकविद्या बाज़ार, ज्ञान-पंचायत, लोकविद्या सत्संग, लोकविद्या स्वराज, दर्शन अखाड़ा, लोकस्मृति और बौद्धिक सत्याग्रह जैसे कार्यक्रमों के मार्फ़त लोकविद्या जन आन्दोलन इस भूमिका को निभाता है।

अधिक जानकारी के लिए देखें -

Website : www.vidyaashram.org

Blogs : lokavidyajanandolan.blogspot.com

darshanakhadablog.wordpress.com

लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला – 2

लोकस्मृति

विद्या आश्रम
सारनाथ, वाराणसी

लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला – 2

पुस्तिका : लोकस्मृति

लेखक : चित्रा सहस्रबुद्धे

प्रकाशन वर्ष : 2020

प्रकाशक : लोकविद्या भाईचारा विद्यालय के लिये विद्या आश्रम की ओर से डा. चित्रा सहस्रबुद्धे, समन्वयक विद्या आश्रम द्वारा प्रकाशित।

संपर्क :

ई-मेल : vidyaashram@gmaillcom

वेब साइट : vidyaashram.org

ब्लॉग : lokavidyajanandolan.blogspot.com

Darshanakhadablog.wordpress.com

मुद्रक : सत्तनाम प्रेस

नईबस्ती, पांडेयपुर, वाराणसी-221002

प्रस्तावना

आशा और उम्मीदों से भरी,
रचना और पहल के रास्ते खोलती,
सभी के लिए
सम्मानपूर्ण और खुशहाल ज़िन्दगी का
साकार दर्शन कराने वाली सहर आये।
आओ, मिलकर भाईचारा बनाने का यत्न करें।

लोकविद्या भाईचारा विद्यालय की यह वैचारिक बुनियाद है। ज्ञान के क्षेत्र में भाईचारे का अर्थ क्या है? और फिर शिक्षा की नीति, संगठन और व्यवस्था के प्रकार इस अर्थ को कैसे समाहित करें ? इन सवालों पर पहल की आवश्यकता को देखते हुए इस पुस्तकमाला को प्रकाशित किया जा रहा है। इस पुस्तकमाला की दूसरी कड़ी के रूप में 'लोकस्मृति' के नाम से यह पुस्तिका प्रकाशित की जा रही है।

लोकविद्या भाईचारा विद्यालयों का कार्य बच्चों, युवाओं और सामाजिक कार्यकर्त्ताओं को समाज की शक्तियों से परिचित कराना है, विशेषरूप से समाज में, सामान्य जीवन और सामान्य लोगों के ज्ञान की शक्ति से परिचित कराना है।

सामान्य जीवन में जज़्ब ज्ञान नैतिक मूल्यों के जीवंत और कारगर रूपों को समेटे होता है। इस पुस्तिका में अपने समाज और परिवेश का परिचय लोकस्मृति के माध्यम से भी करने का आग्रह है। संगठित ज्ञान और लोकज्ञान के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने का यह कम शब्दों में लिखा गया एक छोटा-सा प्रयास है।

यह प्रयास सबको मनन व चिंतन करने के लिए उकसाये और समाज के बीच जाकर उसे जानने, समझने तथा उसे बेहतर बनाने की क्रियाओं से जोड़े, यही उद्देश्य है। यह देखा जा सके कि स्कूल-कालेज-विश्वविद्यालय और किताबों (संगठित ज्ञान) के बाहर समाज में, सामान्य लोगों के पास ज्ञान का विशाल भंडार

है। आज संगठित ज्ञान यानि विश्वविद्यालय और शास्त्रों का ज्ञान, सामान्य जीवन में व्याप्त ज्ञान को ज्ञान नहीं मानता और उसे हिकारत की नज़र से देखता है। लोकविद्या भाईचारा विद्यालय इस रिश्ते को बराबरी और भाईचारे का बनाने में अपनी भूमिका देखता है।

विद्या आश्रम

विषय सूची

1.	प्रस्तावना	3
2.	लोकस्मृति	6
3.	लोकस्मृति और इतिहास	7
4.	भारत भू-भाग के समाजों का ज्ञान-आधार	10
5.	जीवन-संगठन के आधार	15
6.	समाज संगठन और ज्ञान	20
7.	साइंसी सभ्यता और मायावी साम्राज्य	26
8.	राजा और राज्य	31
9.	अंत में	34
10.	लोकविद्या भाईचारा विद्यालय का परिचय	36
11.	पढ़ने के लिए साहित्य सूची	39
12.	अभ्यास	41

लोकस्मृति

अपने समाज और परिवेश के बारे में जानने का अर्थ है समाज की लोकहितकारी व लोकपहल की शक्ति के स्रोतों को जानना। इनके नवीनीकरण और पुनरुज्जीवन के लिए पहल के रास्ते खोजना और बनाना।

हमारे देश में समाज का बड़ा हिस्सा आज भी किसानी और कारीगरी से जुड़ा है। यह हिस्सा आधुनिक शिक्षा के दायरे से बाहर है। क्या स्कूल-कालेज के बाहर रहने वाले इस बहुसंख्य समाज के पास कोई ज्ञान नहीं है? राष्ट्र की समृद्धि में इस तबके का विशाल योगदान किस ज्ञान के बल पर है? राज्यसत्ता का उनके ज्ञान से कैसा रिश्ता है? उनके ज्ञान को पढ़े-लिखे लोग 'ज्ञान' क्यों नहीं मानते? और ऐसा न मानने से समाज में गैर-बराबरी को अधिक पुख्ता बनाने में जाने-अनजाने क्या वे सहयोग नहीं करते? इन सभी सवालों पर खुली बहस को चलाने में लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पहल ले सकें इस दृष्टि से लोकविद्या के विभिन्न पहलुओं को सामने लाने का कार्य हाथ में लिया गया। इस पुस्तिका से 'लोकस्मृति' की शक्ति को सामने लाने का प्रयास है।

सामान्य लोगों के हाथ में पहल के रास्ते लोकस्मृति के मार्फ़त उपलब्ध होते हैं। लोकस्मृति गुणों को संजोती है यानि सकारात्मक अर्थों में स्मृतियाँ संजोती है। ये स्मृतियाँ सामान्य लोगों के भविष्य को बेहतर बनाने के दर्शन का अंग होती हैं। लोकस्मृति में समाज के हर अंग का समावेश होता है और समाज में स्थित ज्ञान (लोकविद्या) के विभिन्न पक्षों का भंडारण इसमें होता रहता है। लेकिन विश्वविद्यालयों में पठन-पाठन करने वाले लोग लोकस्मृति को एकदम से नकारकर केवल इतिहास (आधुनिक संगठित विद्या) को ही जायज़ ज्ञान मानते हैं। ऐसे में हमारे समाज की शक्ति को समझने में ये केवल एक बड़ी बाधा ही खड़ी नहीं करते, बल्कि लोकपहल के सशक्त मार्ग भी देखने-पहचानने में बाधा बनते हैं।

लोकस्मृति से अपने समाज को जानने-समझने और संगठित विद्या (शास्त्रीय ज्ञान, जैसे इतिहास) से भाईचारे का रिश्ता बनाने की ओर बढ़ने का यह प्रयास है।

●

लोकस्मृति और इतिहास

लोकस्मृति

मनुष्य के विचार और जीवन में लोकस्मृति का महत्वपूर्ण स्थान है। लोकस्मृति सामान्यतौर पर उन बातों को संजोकर रखती है जो व्यापक अर्थों में लोकहित की साधक हो सकती हैं। लोकस्मृति परिवर्तनशील होती है। हर काल में लोग अपने अनुभव, ज़रूरत, तर्क और विवेक के बल पर लोकस्मृति का नवीनीकरण व समकालीनीकरण करते रहते हैं और एक ही कथा, घटना, अवधारणा, व्यवहार, और शब्द को नये अर्थ देते हैं। अद्भुत रूपकों के माध्यम से छोटे-छोटे किस्सों-कहानियों को गढ़कर इन अर्थों को रचा जाता है। भाषा का सौन्दर्यपूर्ण सृजन और दार्शनिक दृष्टि का चमत्कार लोकस्मृति में भरा पड़ा है। यह मौलिक और कलात्मक क्रिया सामान्य जीवन में सतत् चलती रहती है।

लोकस्मृति की वे बातें लम्बी उम्र पाती हैं, तथा कभी-कभी अमर भी हो जाती हैं, जो व्यापक अर्थों में नैतिक मूल्यों के धागे बुनती हैं और जिनसे किसी समाज और भौगोलिक क्षेत्र की संस्कृति का वस्त्र तैयार होता है। **इस तरह लोकस्मृति अतीत के 'सत्य' की खोज की नहीं बल्कि 'सत्य के पुनर्निर्माण' का मैदान होती है। यह भविष्य के लिए निर्मल रास्ते खोलती है।**

लोकस्मृति स्थान-काल से बंधी नहीं रहती। इसका मूल उद्देश्य समाज में संग्रहित नैतिक मूल्यों को समकालीन अर्थों में उदघाटित करना है। लोक में प्रचलित तमाम कहानियां और कहावतें लोकस्मृति का अंग हैं।

पूरब के देशों में कथा-कहानियों–कहावतों के मौखिक कथन और वार्ता की यानि लोकस्मृति की समृद्ध परंपरा रही है। हमारे समाज में अलग-अलग धर्मों की कहानियां, पुराण, जातक, पंचतंत्र, सिंहासन बत्तीसी, विक्रम वेताल, अकबर-बीरबल और तमाम लोककथाएं समाज संगठन के मूल्यों के नैतिक आधार को उजागर करती हैं। **ये स्वदेशी विचारों और स्वदेशी व्यवस्थाओं के नवीनीकरण के वे मार्ग प्रशस्त करती हैं, जिनसे सामान्य लोगों के ज्ञान और पहल की गतिशील भागीदारी निश्चित हो।**

इतिहास

इतिहास के नाम से जाना जाने वाला ज्ञान संगठित विद्या का वह अंग है जो आधुनिक विश्वविद्यालयों में लगभग 150-200 वर्ष पहले अस्तित्व में आया है। इसमें इतिहासकार जो लिखते हैं उसे ही इतिहास माना जाता है। लिखित शब्द की इजारेदारी होती है। वैज्ञानिकता और निष्पक्षता का दावा किया जाता है। इतिहासकार अनुमानों के ढेर पर बैठकर सैंकड़ों-हज़ारों वर्ष पहले के घटनाक्रमों की सच्चाई पर अपने दावे का दंभ भरता है। इस इतिहास लेखन में राजनीतिक उद्देश्य निहित होते हैं। **हमारे देश में ऐसे इतिहास की रचना अंग्रेजों के आने के बाद शुरू हुई।** देशी-विदेशी इतिहासकारों ने पिछले 100-150 वर्षों में अब तक जो इतिहास लिखा है वह शासक वर्गों के हित में ही लिखा है। इसमें केंद्रीकृत सत्ताओं और बड़े-बड़े साम्राज्यों को महिमामंडित किया गया। पूंजीवादी समाजों/देशों व उनके ज्ञान व मूल्यों को सबसे सभ्य, विकसित और उनकी संस्कृति को प्रगतिशील बताया गया। गुलाम देशों की आबादी, ज्ञान, संस्कृति आदि को पिछड़ा और असभ्य स्थापित किया गया। नतीजा यह हुआ है कि दुनिया के अनेक देश/प्रदेश/समाज जिनके पास मानवीय मूल्यों से सिंचित ज्ञान, मूल्य, जीवन-संगठन के प्रकार और तौर-तरीके रहे, अपने को पिछड़ा और हीन समझने लगे।

इतिहास लेखन तथ्यों को सामने लाने की बात को **'सत्य की खोज'** का नाम देता है। इस शास्त्र को साइंस का अंग कहा जाता है, निष्पक्ष कहा जाता है। भूतकाल को समझने का एकमात्र सही तरीका वैज्ञानिक दृष्टि से लैस इतिहास को माना जाता है। **ऐसे में लोक, सामान्य जीवन और उनके दृष्टिकोण को इतिहास में कोई स्थान नहीं है।**

इतना ही नहीं, इतिहास लेखन में तथ्य (जिसे सत्य का नाम दिया जाता है) को सामने लाने के नाम पर राजकर्ता, युद्ध, अमीरों, बड़े राज्यों का बखान किया जाता है। पूंजीवादी समाज को प्रगतिशील दिखाने के लिए पहले के समाजों की बुराइयों पर ध्यान केन्द्रित किया जाता है। इसके चलते समाज में ऊँच-नीच, विभाजन, अहंकार, झूठ और बदला लेने की प्रवृत्तियां मज़बूत होती हैं।

समाज को पुन: संतुलन और न्याय की पटरी पर ले आने के लिए लोकस्मृति के मार्फ़त समाज की अच्छाइयों और न्याय की परम्पराओं को उजागर

करने की ज़रूरत है। इसका एक तरीका यह है कि समाज के हर अंग, आयाम, और क्षेत्र के बारे में आम लोगों के बीच एक दार्शनिक संवाद को बनाया जाये। यह छोटी-सी पुस्तिका इसी संवाद को बनाने और बढ़ाने का एक प्रयास हैं।

●

भारत भू-भाग के समाजों का ज्ञान-आधार

दर्शन

किसी स्थान-काल के समाज के बारे में जानने का एक आधार उसमें बसे ज्ञान में होता है। समाज की दर्शन धाराओं में ज्ञान घुला-मिला होता है। इन्हीं के बल पर समाज, अपनी गति, जीवन-मूल्य और विश्व-दृष्टि गढ़ता है। **यहाँ दर्शन अध्ययन से नहीं बल्कि जीवन में अपनाने से जाना जाता रहा है।** लोक और सामान्य जीवन की बेहद मज़बूत और ठोस उपस्थिति यहाँ की दर्शन परम्पराओं में रही हैं और इसी के चलते सत्य और नैतिकता की कसौटी भी इन्हीं में रही हैं। **दर्शन की ये धाराएं जब तक सामान्य जीवन से गहराई से जुडी रहीं, जीवंत और गतिशील बनी रहीं। लेकिन जब ये संगठित रूप लेने लगीं तब सामान्य लोगों के ज्ञान और जीवन से दूर होती गईं और तब सत्य से भी दूर होती चली गईं।** इसलिए यहाँ समाज के ज्ञान-आधार मात्र शास्त्र, ग्रंथ, पंथ या धर्म (संगठित ज्ञान) में खोजना कभी भी पर्याप्त नहीं माना गया।

यहाँ की प्रमुख दर्शन धाराओं में लोकायत, कपिल का सांख्य, वैदिक (पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा), गौतम का न्याय, कणाद का वैशेषिक, पतंजलि का योग, महावीर का जैन, गौतम बुद्ध का बौद्ध आदि दर्शनों की गणना की जाती है। आज ये संगठित दर्शन की धाराएं हैं। इनके कई संप्रदाय हैं, प्रत्येक के व्याख्या आदि के अनेक ग्रन्थ हैं। इन संगठित दर्शन धाराओं के अलावा भी अनेक दर्शन धाराएं कम-अधिक संगठित व असंगठित स्वरूपों में समाज में हमेशा रहीं। **देश के हर कोने में और हर तरह के जाति और समाजों में विविध दर्शन परम्परायें रही हैं और आज भी उनके जीवंत रूप अस्तित्व रखते हैं। हर जाति और समाज की अपनी विश्वदृष्टि विकसित हुई और लोकस्मृति के भण्डार में शामिल हो गई।**

समाज की गति, अनुभव, आवश्यकता और समझ के अनुसार अलग-अलग कालों में इन दर्शन धाराओं ने परस्पर लेन-देन के मार्फ़त स्वयं को नवीन और समृद्ध किया। गोरखनाथ के साथ विकसित हुई नाथ/संत परंपरा और सूफ़ी दर्शन ने यहाँ की दर्शन धाराओं को नए आयाम प्रदान किये। ये सभी धाराएं आज भी जीवंत हैं। **दर्शन की इन धाराओं में बड़े-बड़े अंतर हैं। लेकिन महत्वपूर्ण यह है कि**

इस भू-भाग के मनुष्य की चेतना में इन सभी दर्शन धाराओं का मिला-जुला प्रभाव दिखाई देता है, जो रोजमर्रे के जीवन में परिलक्षित होता है और 'सत्य' के निर्माण का स्थान उपलब्ध कराता रहता है। यह चेतना किसी एक दर्शन, धर्म या क्षेत्र से ही जुड़ी नहीं रही। यह चेतना यहाँ के मनुष्य की पहचान बनी। यह चेतना लोकस्मृति में बसती है।

चेतना के मौलिक बिंदु :

- **कोई भी अकेला नहीं :** यह सृष्टि हर जीव-जड़ में बसी है और यह कण-कण में उजागर होती रहती है, मनुष्य भी इसका ही हिस्सा है। यह सृष्टि भी ब्रह्माण्ड (जो स्वयं भी अनंत ब्रह्मांडों से बना है) का उसी तरह एक अंश है जिस तरह मनुष्य सृष्टि का। इस अनंत ब्रहमांड के बारे में मनुष्य की चेतना अलग-अलग ज्ञान दर्शनों में अलग–अलग ढंग से रही। कुछ दर्शन धाराओं में मान्यता रही कि अनंत ब्रह्माण्ड (अनंत) का सृष्टि के हर कण (जीव-जड़) में सतत संकुचन और विस्तार होता रहता है और इसलिए हर कण उसका ही अंश है। कुछ दर्शन परम्पराओं में अंश और अनंत की एकात्मकता को जीव का लक्ष्य माना है। इसे मुक्ति, मोक्ष, निर्वाण, अनंत में लीन होना माना जाता रहा है। कुछ दर्शन धाराओं में ऐसा नहीं भी माना गया। कुछ अन्य धाराओं में सामान्य जीवन के हर कार्य/कर्तव्य में उस अनंत को ही देखने और उसकी लय में रहने का प्रयास करते हुए भौतिक जगत से ऊपर उठकर सोचने, देखने और कार्य करने का आग्रह भी स्पष्ट है।

  दूसरे शब्दों में इस सृष्टि व अनंत ब्रह्माण्ड में हर कण (जीव-जड़) अपने में अकेला/स्वतंत्र नहीं है बल्कि किन्हीं संबंधों से आपस में जुड़ा/बंधा हुआ है। ये बंधन दोनों को प्रभावित करते हैं। इसी में नीति / नैतिकता जैसे विचारों को आकार मिला और ये सामुदायिक जीवन-दर्शन के आधार बने।

- **सत्य : यहाँ सत्य अमूर्त नहीं है, जीवन से परे नहीं है। सत्य तक पहुँचने के अनेक मार्ग हैं** और यह माना जाता रहा कि हर युग में लोक/समाज 'सत्य' का पुनर्निर्माण करते रहते है। इस भूमि पर अनेक धर्म और दर्शन धाराओं के निर्माण का आधार इसी में रहा। विशेष यह कि सत्य भी अकेला नहीं,

नैतिकता और सौन्दर्य से रहित नहीं है, इनमें भेद/विभाजन नहीं है। 'सत्य' पर भी सामान्य जीवन और लोक की कसौटी को हर काल में महत्वपूर्ण माना गया। कुछ दर्शन धाराओं में अंश का अनंत में सतत् संधान/मिलन/एकाकार होने की ललक को 'सत्य' के निर्माण का मार्ग माना है और इसे जप, तप, साधना से पाने की बात है, तो कुछ दर्शन धाराओं में इन सबके बिना मात्र निर्मल जीवन जीने से भी 'सत्य' को हासिल करने की बात है। संत परंपरा में 'सत्य' मनुष्य के अन्दर है, उसे बाहर खोजना नहीं है। लेकिन इसे पाने का मार्ग पर-पीड़ा को समझने और प्रेम भाव को अपनाए बिना संभव नहीं। गांधीजी ने 'सत्य' को 'अंतरात्मा' की आवाज़ और अंतिम व्यक्ति की स्थिति से एकरूप व एकलय होने में देखा। कलाकार और रचनाकार अपनी हर रचना के द्वारा 'सत्य' का पुनर्निर्माण करते ही माने जाते रहे।

महत्वपूर्ण यह है कि यहाँ 'सत्य' भाव और संवेदनाओं से पूर्ण देखा, समझा और माना गया है। इसके उलटे साइंस (जो भौतिक जगत का ज्ञान है), में 'सत्य को खोजने' की अवधारणा है और मनुष्य के भाव और संवेदनायें इसे और इसके मार्ग में बाधा खड़ी करते या इसे दूषित करती माने जाते हैं।

- **स्वायत्त सत्ता : यहाँ सामुदायिक जीवन-दर्शन से पैदा हुए विचारों में स्वायत्त सत्ता का विचार एक महत्वपूर्ण विचार रहा हैं।** प्रत्येक जड़, जीव, व्यक्ति, समूह, संगठन, समाज, क्षेत्र आदि के स्वायत्त अस्तित्व के विचार और व्यवहार को मान्यता मिली। धर्म, संप्रदाय, जाति, राज्य, व्यवस्थाएं आदि की रचना और सञ्चालन में स्वायत्तता का विचार सतत् उपस्थित रहा।

  अंश (कण) से लेकर अनंत (व्यापक) तक **सतत् विस्तार व संकुचन पाते निरंतर गतिशील वृत्तों के घेरों में मनुष्य का (व्यक्ति के रूप में) जीवन बहुत छोटा व क्षुद्र है, लेकिन उसका अस्तित्व स्वायत्त है और वह अपने नेक इरादों को छोटे से जीवन में साकार कर सके इसके लिए स्वतंत्र है।** यह विचार अहम् का एहसास कराता है। यह ज़रूर है कि अहम् हावी हो तो अहंकार को जन्म देगा, व समयांतर में मर्यादा तोड़ इस सृष्टि की नीति-गति में दोष को जन्म देगा। ऐसे में अहम् को नियंत्रित करना यहाँ की लगभग हर

दर्शन-धारा ने अनिवार्य माना है। अहम्/अहंकार केवल व्यक्ति में स्थित ही नहीं माना गया बल्कि परिवार, समूह, जाति, भाषा, क्षेत्र, संस्कृति, राष्ट्र, सभ्यता आदि में भी स्थित माना गया और जब इनमें से किन्हीं भी स्तर का अहम् अनियंत्रित होगा तो ये असंतुलन /अन्याय पैदा करेगा, अन्य स्वायत्त सत्ताओं पर अतिक्रमण करता जायेगा।

- **परिवर्तनशील अस्तित्व :** यहां की लगभग सभी दर्शन धाराएं ब्रह्माण्ड व सृष्टि (जगत) को क्षणभंगुर मानती हैं। कोई इस क्षणभंगुरता को नश्वर कहता है कोई सतत् परिवर्तशील तो कोई असत्। मतलब यही है कि यह जगत हर क्षण मरता और हर क्षण पैदा होता माना गया। जीव-जड़ और क्षण भी नश्वर हैं, इनकी अपने आप में कोई उपयोगिता, मर्यादा और नैतिकता नहीं मानी गई। ऐसे में जीव-जड़ की स्थिति से जीव-जड़ के बारे में ज्ञान को एकांगी माना गया और क्षण(काल) की स्थिति से क्षण का ज्ञान भी एकांगी ज्ञान माना गया। **इनके बारे में ज्ञान को जगत व सृष्टि के साथ संबंधों की मर्यादा और नैतिकता में ही जानने का आग्रह रहा।** ऐसे में समाज के निरंतर विस्तार पाते दायरों में भी मनुष्य(व्यक्ति) की अपने आप में, परिवार की अपने आप में, समाज, पंथ, सभ्यता की अपने आप में कोई उपयोगिता, मर्यादा और नैतिकता नहीं मानी गई। इस वजह से सामान्य लोगों ने साइंस को एक 'सिद्धि' के रूप में माना लेकिन इसे 'ज्ञान' कहने/मानने में संकोच बना रहा।

- **काल :** काल को चक्र के रूप में देखा गया। जिस तरह ब्रह्माण्ड में सूर्य, चन्द्र का गति चक्र, सृष्टि में मौसम, दिन-रात, जीवों के जन्म-मृत्यु का चक्र है, उसी तरह निश्चित अवधि में काल की पुनरावृत्ति होती मानी गई। साइंस में काल की कल्पना सरल रेखा में की गई है, जिसमें गया समय वापस नहीं लौटता और हर पिछली बात, वस्तु, मूल्य, विचार आदि पुराने, और अप्रासंगिक माने जाते हैं। काल की अवधारणाओं की भिन्नता के चलते भूतकाल और भविष्य को समझने की दृष्टि भी अलग बनती है। यहाँ काल की चक्रीय समझ में कुछ भी पुराना या पिछड़ा नहीं होता। समय के साथ उसे पुनः नवीन करने के निरंतर अवसर आते रहते हैं, इसके दृष्टान्त भी हर क्षेत्र में मिलते हैं।

- **कर्म :** जीव में कर्म की प्रेरणा कहाँ से आती है? इसके बारे में बहुत विचार किया गया है। कर्म की प्रेरणा का स्रोत सृष्टि के कार्य में सहयोग, उसके कार्य में आ रही बाधाओं, कमियों या गड़बड़ियों को दूर करने में देखा गया। इसके चलते मनुष्य के ज्ञान में प्रारंभ से ही नैतिक अंश समाहित हो जाता रहा। **न्याय, अहिंसा, प्रेम, क्षमा और त्याग को 'ज्ञान' का अनिवार्य हिस्सा माना गया।**

  साइंस के अनुसार जीवन की आवश्यकतायें मनुष्य के कर्म की प्रेरणा रही हैं। भारत भू-भाग में आवश्यकताओं को इच्छाओं के नतीजों के रूप में देखा गया। इच्छायें अंतहीन ही नहीं बल्कि नैतिक और अनैतिक होती हैं परिणामतः कर्म भी नैतिक/अनैतिक हो जाता है। यहाँ के समाजों में **इच्छा और कर्म दोनों को बांधना/मर्यादित करना ज़रूरी माना गया। लोभ, मोह, संग्रहप्रवृत्ति, असत्यवचन, हिंसा जैसी प्रवृत्तियों पर नियंत्रण** करने का विचार प्रमुख बना और इसे जीवन में ढालने के लिए **अनासक्त कर्म** (मोह रहित कर्म) के विचार को लगभग सभी दर्शन-धाराओं ने महत्त्व का माना। यह भी कि सृष्टि और समाज के अन्दर जो भेद/असंतुलन/अन्याय हैं उन्हें पार करके 'सत्य' से साक्षात्कार करने व उसका पुनर्निर्माण करने का ज्ञान अनासक्त कर्म के रास्ते पर चलकर हासिल होता है। अनासक्त कर्म को बहुत उच्च तप माना गया। गांधीजी ने इसे 'सेवा कर्म' में देखा और सेवा को पांचवां पुरुषार्थ कहा। **स्वायत्त सत्ताओं के विचार में अहम् को नियंत्रित करने की जो बात आती है, उसका एक तरीका अनासक्त कर्म में देखा गया।**

इस तरह यहाँ ज्ञान-क्षेत्र के हर अंग और आयाम में, कला, चिकित्सा, कृषि, वान्यिकी, वास्तु, धातुकीय, कारीगरी, पालन-पोषण, समाज-संगठन आदि में यानि सामान्य जीवन के सभी आयामों में, स्थानीय विविधता के साथ उपरोक्त अवधारणायें कम-अधिक मुखर दिखाई देती हैं। विभिन्न धार्मिक आस्था रखने वाले किसान, कारीगर, आदिवासी, और सेवा कार्य में लगे जानकार स्त्री-पुरुषों के जीवन, कार्य, व्यवहार और भाषा में यह चेतना दिखाई देती है, इसी में उनका मूल स्वभाव व्यक्त होता है।

●

जीवन-संगठन के आधार

समाज और जीवन संगठन की कुछ उन बुनियादी विशेषताओं का यहाँ उल्लेख किया जा रहा है जो हमारे समाज के पुनर्निर्माण में हर युग में ज़मीन उपलब्ध कराती रही हैं।

- **लोक और शास्त्र के बीच मैत्री का सम्बन्ध :** लोक अथवा सामान्य जीवन में जो मूल्य, तौर-तरीके और मान्यतायें रहीं उन्हें यहाँ शास्त्र (संगठित ज्ञान) में बहिष्कृत, तिरस्कृत अथवा कम दर्जे का नहीं माना जाता रहा। लोक और शास्त्र में लेन-देन हमेशा चलता रहा है और बहुधा लोक की मान्यता को प्राथमिकता दी जाती रही है। संगठित ज्ञान और लोकज्ञान (लोकविद्या) में यह मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्वराज और स्वदेशी व्यवस्थाओं को मज़बूत आधार देता रहा है। लेकिन साइंस (आधुनिक संगठित ज्ञान) के फैलाव ने बड़े पैमाने पर लोक और शास्त्र के इस मैत्रीपूर्ण संबंध को तोड़ा। साइंस लोकविद्या का तिरस्कार करता है। इनके बीच सम्बन्ध को जब तक पुनः बराबरी और मैत्री का नहीं बनाया जाता तब तक न्यायपूर्ण समाज की कल्पना को साकार करने में बाधा बनी रहेगी।

- **धर्म :** यहाँ 'धर्म' शब्द को संगठित धर्म के अर्थ में नहीं लिया जाता रहा। यह शब्द उस अवधारणा/अर्थ के निकट कहा जा सकता है, जो जीवन में सही-गलत की पहचान को साफ़ करने का साधन हों। किसी भी कर्म की प्रेरणा को तर्क और विवेक के स्तर पर कस कर उसे आचरण में लाने में धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। लेकिन तर्क का यह प्रकार भाव-संवेदनाओं से सिंचित रहा। किसी एक ही देवता, पंथ, ग्रन्थ, स्थान या पूजा पद्धति को यहाँ पूर्णतया अनुकरणीय नहीं माना गया। व्यक्ति अपने आराध्य और आराधना के तरीके स्वयं भी तय कर सकता रहा है और इसे लोक मान्यता रही। एक साथ कई आराध्य हों इसमें कुछ भी गैर नहीं माना गया। यहाँ धर्म के दर्शन और उसके भौतिक स्वरुप, कर्मकांड आदि को ब्राहमण पुजारी/पुरोहित ही तय नहीं करते बल्कि जातियों और क्षेत्रों में अपने-अपने विधान और सञ्चालन के तरीके भी दिखाई देते है। सभी पक्षों में सहयोग और समन्वय की धारा सतत् रही।

मौलिक विचार और पद्धतियों के मिलन और लेन-देन को मान्यता मिलती रही।

धर्म जैसे-जैसे अधिकाधिक संगठित स्वरुप लेने लगा समाज में तनाव और मतभेद भी उभरते रहे लेकिन समन्वय का आग्रह हमेशा हावी रहा। पिछली दो-ढाई सदियों में दुनिया में साम्राज्यवादी शक्तियों का जो दब-दबा बढ़ता गया है उसने यह धारणा फैला दी कि समाज निर्माण का माडल वही श्रेष्ठ है जिसमें एक केंद्रीकृत राज्यसत्ता, एक ही धर्म, एक आर्थिकी, एक ही ज्ञान, एक ही उत्पादन पद्धति, एक ही शिक्षा, एक संविधान, एक तरह के सामाजिक व्यवहार आदि हों। साम्राज्यवादी विचार का विरोध करने वाले भी कई बार इसे अच्छा मानते हैं। **विविधता और उनकी स्वायत्तता को साम्राज्यवादी प्रवृत्तियां और शक्तियां कत्तई बर्दाश्त नहीं करतीं। जबकि सृष्टि में स्वायत्त सत्ताओं के साथ जन्मी विविधता में न्याय, समृद्धि और विकास का आधार दृष्टिगत होता है।** सृष्टि के साथ लय बनाते हुए यहाँ के समाजों में हमेशा ही धर्म के विविध रूपों को सामान्य जीवन में बड़ा स्थान मिलता रहा। इसी के बल पर धर्म और राज्यसत्ता एक दूसरे के नाजायज़ दबाव से काफी हद तक बचे रहे और किसी भी तरह की कट्टरता के घेरों को निरंतर तोड़ने में कामयाब रहे।

- **परंपरा :** यहाँ परंपरा का अर्थ है विरासत की जीवंत बहती धारा। किसी भी ज्ञान धारा का जीवंत रूप ग्रंथों में नहीं बल्कि समाज/लोक में होता है। किसान, कारीगर, आदिवासी, स्त्रियाँ आदि में दृष्टिगोचर सामान्य जीवन में अनवरत बहती ज्ञान धारा ही परंपरा का अर्थ निरुपित करती है। परंपरा रूढ़ नहीं होती, बल्कि हर युग में समाज की आवश्यकता, अनुभव, लोकपहल और लोकविवेक के सहारे नवीन होती रहती है। ज्ञान का नवीनतम रूप ही जीवन में रहता है। परंपरा में क्या त्याज्य है और क्या ग्रहण योग्य है इसे तय करने का मार्ग सामान्य जीवन से ही गुज़रता है।

- **समाज :** भारत भू-भाग पर समाज संगठन के ऐसे विचार आकार लेते गए जिनमें उपरोक्त मूल्य और मान्यतायें सतत् दिशाबोध प्रदान कराती रहीं। समाज

की कल्पना यह रही कि बृहत् समाज ऐसे कई समाजों से जो स्वयं पूर्ण हैं, मिलकर बना है। हर सामाजिक इकाई उत्तरोत्तर ऐसी ही पूर्ण इकाइयों से बनी है, यहाँ तक कि अंत में व्यक्ति में भी समाज/ब्रह्मांड की प्रखर उपस्थिति है। यानि समाज ऐसे छोटे-छोटे समाजों से बना है जिनकी अपनी सत्ता है और जो अपने ज्ञान, कर्म, अर्थ और व्यवहार आदि के बारे में उस हद तक स्वयं विधाता हैं जिस हद तक अन्य समाजों की स्वायत्तता पर अतिक्रमण न हो। धर्म, सामाजिक व्यवहार, अर्थ और स्वायत्तता और इसके लिए आवश्यक ज्ञान व विद्या अर्जन करने की व्यवस्थाओं के लिए किसी एकाधिकार सत्ता-स्थान (आज के विश्वविद्यालय की तरह) का विचार नहीं रहा। जातियों की लचीली व्यवस्था को आकार मिला। छोटे-छोटे राज्यों की परम्परा बनी। राजा को सर्वसत्ता कभी नहीं सौंपी गई। गाँव के अन्दर की व्यवस्थायें, जातियों के अन्दर के व्यवहार, आस्था और रिवाज़, ज्ञान के क्षेत्र, आदि पर राजा सीधे हस्तक्षेप नही कर सकता था। इस भूमि पर अधिकांश काल ऐसी ही छोटी स्वायत्त इकाइयों का राज रहा है, जिनके बल पर यहाँ संस्कृति की गौरवशाली परंपरा विकसित हुई। स्वायत्त सत्ता यहाँ का आदर्श है। कुल मिलाकर चार-छः हज़ार वर्षों के काल में, किन्हीं पांच-दस राजाओं के राज में, यानी लगभग 200-300 वर्ष ही भारत के बड़े भू-भाग पर एकाधिकार वाली सत्तायें रहीं हों और यही काल अत्यधिक युद्ध, रक्तपात, अन्याय, अत्याचार, जोर-ज़बर के रहें। इन्हें आदर्श मानने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

- **संपत्ति :** यहाँ की अधिकांश दर्शन धाराओं और जीवन-मूल्यों में भौतिक सुख, धन और संपत्ति को जुटाने यानि संग्रह की प्रवृत्ति को हेय माना गया है। ज्यादातर समाजों में संपत्ति पर निजी और वंशानुगत अधिकार की परम्परा नहीं रही। धरती को माँ का दर्जा मिलता रहा और उसके बंटवारे या बेचने को बड़ा पाप माना गया। कई क्षेत्रों में खेती की भूमि गाँव के परिवारों में बारी-बारी से पुनर्वितरित होती थी जिससे सभी को उपजाऊ हिस्से मिलते रहे। ऐसे गांवों को **'भाईचारा गाँव'** कहा जाता था। स्वायत्त शासन की इकाइयां और जाति की सामाजिक व्यवस्थायें इतनी लचीली रहीं कि लोग अपनी आवश्यकता के अनुसार फेर-बदल कर सकें। तरह-तरह के उत्पादन का स्थानीय स्तर पर लेन-

देन होता रहा। यहाँ के उत्पादन का छोटा हिस्सा समुद्र पार सुदूर समाजों तक भी जाता रहा पर स्थानीय समाजों को इससे वंचित कर के नहीं। राजस्व का संग्रह और उसके बड़े हिस्से का बंटवारा स्थानीय स्तर पर ही हो जाता रहा। इसमें समाज की खुशहाली की निश्चितता का आधार रहा। ऐसा लगभग अंग्रेजों के आने तक बना रहा।

महत्वपूर्ण बात यह है कि ये व्यवस्थाएं ऐसी इसलिए नहीं बनी रहीं कि यहाँ उत्पादन और जीवन के साधन सीमित थे अथवा यहाँ के लोग आलसी और अज्ञानी थे, या फिर लोगों का एक जगह से दूसरी जगह जाना-आना कम रहा हो। ऐसे कारण गिनाना केवल दुष्प्रचार हैं। **गौर करने की बात यह है कि जीवन के कार्य और विचार के नजदीकी व दूरगामी परिणामों के प्रति इन समाजों में स्थित ज्ञान में बड़ी सटीक समझ बनती रही है।** यहाँ सामूहिक/सामुदायिक जीवन दर्शन के विचार में मनुष्य ही नहीं बल्कि जड़-जगत, वनस्पति, प्राणी, वातावरण, सृष्टि, गृह, नक्षत्र, ब्रह्मांड सब कुछ शामिल रहा है और इन सभी के साथ सम्बन्ध न्यायपूर्ण बना रहे इसके प्रति सजग चेतना रही। लेकिन अंग्रेजों के आने के बाद **निजी संपत्ति की अवधारणा व व्यवस्था ने समाज व सृष्टि को स्वार्थवश किसी भी हद तक जा कर तोड़ने, लूटने, विध्वंस करने की क्रियाएं शुरू हो गईं** जिसने हर क्षेत्र में गैर-बराबरी, युद्ध और अन्याय बढ़ाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की।

- **उत्पादन :** यहाँ अधिकांश स्थानों पर **'जीवन के लिए उत्पादन'** का कार्य यह हमेशा ही सामुदायिक प्रयास रहा। उत्पादन के साधनों के इस्तेमाल, अविष्कार, नवीनीकरण आदि से सम्बंधित सभी सवालों का घेरा सामुदायिक विचार और चिंतन की प्रक्रिया से गुज़रता रहा। प्रकृति के साथ संतुलन में, लय में जीने के आग्रह को नैतिक नियम का दर्जा प्राप्त था और ये उत्पादन के साधन, उत्पादन की मात्रा, प्रक्रिया, भण्डारण, वितरण, विनिमय, नवीनीकरण, उपभोग आदि को नियंत्रित भी करते रहे। आज भी असंगठित क्षेत्र में हो रहे उत्पादन के कुछ हिस्सों में इनके अंश मान्यता और मूल्य के रूप में देखे जा सकते हैं।

उपरोक्त बातें हमारे समाज की शक्ति के स्रोतों की ओर हमारा ध्यान खींचती हैं। इसका मतलब यह नहीं है कि समाज में बुराइयां नहीं थीं। इसका अर्थ केवल यह है कि बुराइयों पर नियंत्रण करने और समाज के न्यायपूर्ण पुनर्निर्माण की शक्ति को जुटाने में ये स्रोत मददगार साबित होते रहे। समाज में न्याय की स्थापना और पुनर्निर्माण की क्रियायें समाज की अपनी सामुदायिक समझ की शक्ति के बल पर होती हैं। संत परंपरा ने ऐसे ही रास्ते खोले। गांधीजी ने इन्हीं शक्ति स्रोतों से स्वदेशी, सत्याग्रह और स्वराज के धागे बुने जिन्होंने न्यायपूर्ण समाज रचना का दिशाबोध कराया।

●

समाज-संगठन और ज्ञान

धरती के हर कोने और टुकड़े पर दूर-दूर से मनुष्य समूहों के आने-जाने के चिन्ह पाये गये हैं। पक्षी और जानवरों की ही तरह मनुष्य समूह भी अनादि काल से इस धरती की सतह पर अनेक कारणों से दूर-दूर तक एक स्थान से दूसरे स्थान पर आते-जाते रहे हैं। कभी संकटों से बचने के लिए, कभी चरागाह और उपजाऊ भूमि की खोज में, कभी आध्यात्मिक विचारों की खोज में तो कभी राजसत्ता और साम्राज्य के विस्तार के लिये आदि। जब तक राष्ट्र नहीं बने थे और उनके बीच सरहदें नहीं बनी थीं (यानि लगभग 19वीं सदी तक), तब तक इस धरती पर कोई व्यक्ति बाहरी नहीं था। यूरोप की औद्योगिक क्रांति (18वीं सदी) के बाद बाज़ार की खोज करते हुए साम्राज्यवादी शक्तियां प्रबल होती गईं। **साम्राज्यवादी शक्तियों के जन्म और विकास में यूरोप के ज्ञान (साइंस) का एक महत्वपूर्ण आधार रहा। इस ज्ञान की अनियंत्रित धारा में बहते हुए यूरोप के देशों ने दुनिया भर में उपनिवेश बनाना और उनके संसाधनों को लूटना शुरू किया। इन देशों द्वारा दुनियाभर के समाजों पर बलपूर्वक क़ब्ज़ा करना, उनके संसाधन और श्रम को लूटना, उन्हें गुलाम बनाना आदि अनैतिक क्रियाएं शुरू की। समाज-संगठन और ज्ञान का परस्पर पनपने वाला सम्बन्ध होता है।** नैतिक समाज-संगठन का आधार नैतिक ज्ञान में होना होगा।

अनैतिक ज्ञान अनैतिक समाज का निर्माण करता है।

औपनिवेशिक देशों से मिली लूट को आपस में बाँटने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने दुनिया को ही आपस में बांटना शुरू किया। इस तरह धरती पर क्षेत्रों की सरहदें बनती चली गई और इन क्षेत्रों और समाजों पर बिना बाधा के **राज करने की मंशा ने यहाँ 'राष्ट्र' की एक नई अवधारणा को जन्म दिया। राष्ट्र-राज्य की अवधारणा के तहत मनुष्य समाज के संगठन ने राज्य सत्ता को सर्वोच्च माना और व्यक्ति और राज्य के बीच विविध पंचायतों और सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक संगठनों को निष्क्रिय बनाने को जायज़ मान लिया।**

साम्राज्यवादी शक्तियां अन्य समाजों पर बलपूर्वक शासन करने की मंशा से पैदा होती और पनपती हैं। इस प्रक्रिया से जन्मी 'राष्ट्र' की अवधारणा में भी यह भाव निहित है। यही वजह है कि विभिन्न राष्ट्रों के शासकों के द्वारा अंदरी-बाहरी, देशी-विदेशी, नस्ल, रंग, धर्म, भाषा, आदि सभी विविधताओं को सामान्य समाज के खिलाफ इस्तेमाल किया जाने लगा। इससे 'राष्ट्र' और 'समाज' के बीच दूरी बढ़ती चली गई। 20वीं सदी के मध्य तक लगभग सभी औपनिवेशिक देशों ने यूरोप के साम्राज्यवादी देशों के राजनैतिक कब्ज़े से खुद को मुक्त कर लिया लेकिन अब इन्हीं 'राष्ट्रों' की सरकारें और शासक साम्राज्यवादी शक्तियों की तरह अपने ही लोगों और समाजों को लूटने, बाँटने और राज करने लगे हैं। स्वाभाविक है कि **आज इन सभी देशों में राष्ट्र-हित और समाज-हित एकदूसरे के विरुद्ध खड़े दिखाई दे रहे हैं। साम्राज्यवादी सोच राजसत्ता और व्यक्ति के बीच किन्हीं भी प्रकार के स्वायत्त सामाजिक-संगठनों की उपस्थिति को बर्दाश्त नहीं करतीं।**

दुनिया भर के शासक अपने ही राष्ट्र के समाजों के बीच अर्थ, धर्म, नस्ल, ज्ञान, जाति, रंग, लिंग, क्षेत्र, भाषा, संस्कृति आदि के भेदों के आधार पर ऊँचा-नीचा, सभ्य-असभ्य, श्रेष्ठ-निकृष्ट साबित कर उन्हें आपस में लड़ाने, दबाने, प्रताड़ित और अपमानित करने के कार्य करते हैं। इसी के सहारे सरकारें सामान्य लोगों के संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने की प्रक्रिया भी चलाती रहती हैं और संसदीय लोकतंत्र के पाखंडी पर्दे के पीछे उनके राजनैतिक संगठन/पार्टियाँ अपनी सत्ता को कायम भी करती रहती हैं। लोकतंत्र की सरकारें हों या किसी अन्य प्रकार की, आज लगभग सभी देशों में सरकारें और उनके मंत्री व्यभिचार, भ्रष्टाचार में डूबे हैं और सत्ता के दुरुपयोग के साथ अपने ही समाजों के साथ दगा करने में व्यस्त हैं। निश्चित ही ऐसा करने के लिए बहुत बड़े पैमाने पर झूठ और पाखंड का सहारा लिया जा रहा है। इस व्यवस्था ने मनुष्य को एक अनैतिक अस्तित्व में रहने के लिए मजबूर किया है।

मनुष्य को अपने इस अनैतिक अस्तित्व से मुक्ति का रास्ता खोजना और बनाना अब अनिवार्य है। लोकस्मृति का सहारा हमें इसका दिशाबोध देता है।

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य :

मनुष्य के जीवन का उद्देश्य समाज और सृष्टि को खुशहाल बनाने के लिए है, बड़े-बड़े साम्राज्य बनाने (आर्थिक, राजनैतिक, भौगोलिक, सामाजिक, विद्यागत, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि) की महत्वाकांक्षा, उद्देश्य और कार्य बेहद अनैतिक और हिंसक कार्य हैं। भारत भू-भाग की दर्शन परंपरा में राजा से अधिक दार्शनिक, विचारक और संत को मान दिया जाता रहा है। राजा ही दार्शनिक भी हों तो सोने में सुहागा। क्योंकि दार्शनिक नेतृत्व ही मनुष्य समाज को नैतिक मार्ग पर ले जाने की क्षमता दिखाता रहा है।

अलग-अलग समय पर इस भारत भू-भाग पर अनेक कबीले, समूह, जातियां और धर्म के लोग आये, स्थानीय समाजों के साथ मिलकर उन्होंने सहजीवन के मार्ग बनाये। कुछ ने यहाँ कुछ क्षेत्रों पर राज भी किया। इनमें से कई यहीं बस गये, कुछ चले भी गये। ज्ञान की नई-नई बातें लाये, यहाँ से ज्ञान की बातें दुनिया में ले गये। जो यहीं बस गये वे यहाँ की संस्कृति में जज़्ब हो गये और उसमें अधिक निखार भी ले आये।

लेकिन 18वीं सदी में ब्रिटेन से आये अंग्रेजों ने इस भूमि पर के समाजों को इस क़दर झकझोर दिया कि ये अपनी पहचान और शक्ति की मौलिकता ही खोने लगे। **निजी संपत्ति की व्यवस्था और मुनाफा कमाने के ज्ञान (साइंस) पर सवार होकर आये अंग्रेजों ने इस भू-भाग के ज़्यादातर हिस्सों पर अनैतिक ढंग से क़ब्ज़ा कर 19वीं सदी के मध्य तक इसे अपना उपनिवेश बना लिया।** अंग्रेजों ने यहाँ की दर्शन, ज्ञान, कला, व्यवहार और समाज-संगठन की परम्पराओं को उखाड़ फेंका, उन्हें निकृष्ट और पिछड़ा करार दिया। हमारे समाज की केवल उन बातों को प्रचारित किया जो उनके साम्राज्य को जायज़ और पुख्ता बनाने में मददगार हों। **उन्होंने साइंस, निर्यात आधारित उत्पादन व बाज़ार तथा कानून और बल पर आधारित केन्द्रीयकृत राजसत्ता को स्थापित किया** (जो इस भू-भाग में न तो कभी आदर्श मानी गई और न कभी थीं)। समाजों की विद्या, ज्ञान, समृद्धि और पहल छीन ली गई और उनके प्रतिरोध के रास्ते भी बंद हो गये। 20वीं सदी में गांधीजी के नेतृत्व में अंग्रेज़ शासन की इस प्रक्रिया को चुनौती मिली और एक बार फिर स्वराज और स्वदेशी व्यवस्थाओं को समकालीन रूप मिला। लोगों

के हाथ में पहल की डोरियाँ आने लगीं। लेकिन आधुनिक बाज़ार, शिक्षा और लोकतंत्र की पाखंडी व्यवस्थाओं के प्रसार ने पूंजीवाद को बेहद मज़बूत बना दिया, जिसके चलते आज़ाद भारत की नीतियां साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को पोसने वाली बनती चली गईं। ज्ञान और व्यवहार के लगभग सभी क्षेत्रों में इसके असर भी दिखाई देने लगे और सामान्य लोगों के हाथ की पहल फिर से छिनती चली गई।

वैश्वीकरण के इस दौर में दुनिया के हर कोने से और हर क्रिया से मुनाफा उठाने की व्यवस्थाएं बनती चली जा रही हैं, युद्ध, नफ़रत, दंगे, बदहाली और अत्याचार को फैलाकर सरकारें लोकतंत्र के नाम पर शासन कर रही हैं। प्रकृति का विध्वंस और मनुष्य समाज में गैर-बराबरी पैदा कर अनैतिक तरीकों से विलास के साधन पैदा करने को **'विकास'** का नाम दिया जा रहा है। **ऐसे दौर में ज्ञान और समाज-संगठन के प्रकारों पर विचार करना और मनुष्य के प्राकृतिक अस्तित्व को पुनः स्थापित करना एक पवित्र कार्य है।**

ज्ञान की भूमिका

समाज के संगठन और ज्ञान के बीच गहरा रिश्ता होता है। वे एक दूसरे को सतत् गढ़ते रहते हैं। हमारे यहाँ ज्ञान को सत्य, नैतिकता और सुन्दरता से पूर्ण होने का आग्रह रहा है। **सत्य और नैतिकता रहित ज्ञान को 'ज्ञान' नहीं माना जाता रहा।** सवाल है कि सत्य और नैतिकता के समकालीन रूप कहाँ खोजे जा सकते हैं? इन रूपों का दर्शन सामुदायिक सहजीवन या लोक जीवन में होता है और लोकविद्या या लोकज्ञान में प्रकट होता रहता है। दूसरे शब्दों में ज्ञान के सही-गलत, लोकहित-अहित में होने की कसौटी सामान्य जीवन में होती है। यानि **ज्ञान सामान्य जीवन में बसता है जो हर तरह की ज्ञान-धाराओं का स्रोत है। ये ज्ञान-धारायें अपने स्रोत से निकलकर अन्य धाराओं के साथ सहयोग व समन्वय के साथ समाज में विचरती हुई समृद्ध, विकसित और नवीन होकर पुनः सामान्य जीवन में लौट आती हैं। इस तरह समाज को भी पुनः नवीन करती रहती हैं।** समाज-संगठन भी विभिन्न समाजों के समन्वय से बना माना गया जो सतत् एक दूसरे से लेन-देन कर समृद्ध होते रहते हैं। **जो ज्ञान धारायें पुनः सामान्य जीवन में नहीं लौटतीं वे मनुष्य, समाज और प्रकृति की विरोधी बन जाती हैं और उन्हें नियंत्रित करने की ज़रूरत पैदा हो जाती है। इसलिए हमारे**

यहाँ संगठित-ज्ञान और लोकविद्या के बीच निरंतर संवाद बने रहने पर जोर दिया गया। संगठित-ज्ञान को मर्यादित करने की यह एक महत्वपूर्ण प्रक्रिया रही। यह स्वायत्तता के विचारों से अनुप्राणित समाज-संगठनों में ही संभव हो सकता है। संगठित-ज्ञान और लोकविद्या के बीच संवाद यह दर्शाता है कि इनके बीच परस्पर भाईचारे के रिश्ते को मान्यता मिलती रही और दोनों की समझ को यह प्रक्रिया समृद्ध करती रही। इसी प्रक्रिया से ज्ञान समाज में जज़्ब होता रहा है।

साइंस में ज्ञान की अवधारणा इससे एकदम अलग रही है। साइंस में प्रकृति के भौतिक विस्तार को जानने और उस पर नियंत्रण हासिल करने के ज्ञान को 'ज्ञान' माना गया है। इस ज्ञान को हासिल करने के स्थान समाज से अलग और विशेष परिस्थितियों के निर्माण के द्वारा होते हैं। साइंस के मूल्य और तर्क के प्रकार मनुष्य व समाज की संवेदनाओं और भावों से स्वतंत्र हैं यानि इसमें भाव और संवेदनाओं को ज्ञान का हिस्सा नहीं माना जाता। औद्योगिक क्रांति के बाद यूरोप ने अपनी बढ़ती आर्थिक-राजनैतिक (साम्राज्यवादी) ताकत के बल पर साइंस को एकमात्र जायज़ ज्ञान का दर्जा देकर ज्ञान की अन्य धाराओं को निकृष्ट करार दिया, और उन्हें ज्ञान मानने से इनकार कर दिया। 19वीं सदी में ज्ञान के क्षेत्र पर साइंस का एकाधिकार हो गया। 20वीं सदी में दुनिया के लगभग सभी देशों की सत्ताओं ने साइंस की ज्ञान-धारा को विशेष समर्थन दिया। हर कार्य-क्षेत्र में साइंस के सिद्धांत और तर्क के प्रकारों को विशेष सम्मान और स्थान दिया जाने लगा। **आज संगठित-ज्ञान का सबसे शक्तिशाली रूप साइंस ही है। सामान्य लोगों से ज्ञान पर संवाद को साइंस ने कभी स्थान नहीं दिया।** लोकविद्या को शिक्षा, उद्योग, चिकित्सा, आदि क्षेत्रों से पिछड़ा ज्ञान कहकर अपमानित और बहिष्कृत किया गया। विश्वविद्यालयों के मार्फ़त साइंस और साइंस आधारित विशेषज्ञों की फ़ौज बनाकर समाज में स्थित ज्ञान को तिरस्कृत करने के अभियान चले। यह सामान्य लोगों को अज्ञानी और मूर्ख करार देकर उन पर शासन करने की नीति का हिस्सा रहा। **सामान्य लोगों से सम्बन्ध एकतरफा हो गया, लोकतंत्र के छत्र के नीचे सामान्य लोगों की भलाई और पहल के सारे अधिकार लोगों के हाथ से निकलकर उनके प्रतिनिधियों और आधुनिक शिक्षा से लैस शिक्षित लोगों के हाथ में चले गये। हर क्षेत्र में नेतृत्वकारी शासक वर्ग का सामान्य लोगों से संवाद टूट गया। सामान्य लोगों से ज्ञान-संवाद टूट जाने से साइंस (संगठित-**

ज्ञान) सभी मर्यादाओं का अतिक्रमण करने लगा। राजसत्ता, पूँजी, शिक्षा-व्यवस्था और साइंस का गठबंधन दिन-ब-दिन मज़बूत होता गया। समाज में गैर-बराबरी, अन्याय, युद्ध और प्रकृति की तबाही का आधार इस गठबंधन में है। विश्व स्तर पर व्याप्त इस गठबंधन के चलते आज इसे साइंसी सभ्यता कहना उचित होगा।

●

साइंसी सभ्यता और मायावी साम्राज्य

पिछले 200 वर्षों से दुनिया भर में साइंस के ज्ञान, तर्क, मूल्य से लैस होकर तथा राजसत्ताओं के पूर्ण समर्थन के बल पर जो व्यवस्थायें गढ़ी गई हैं उन्हें मोटे तौर पर हम आधुनिक राज्य, आधुनिक उद्योग और आधुनिक शिक्षा के नाम से जानते हैं। इसे साइंसी सभ्यता कहा जा सकता है। इस साइंसी सभ्यता ने आज दुनिया भर के उन लोगों को अपनी गिरफ्त में ले लिया है जो साइंस, आधुनिक राज्य, आधुनिक उद्योग और आधुनिक शिक्षा से लाभान्वित हैं और तमाम लोग इस भुलावे में हैं कि वे भी कभी इस घेरे में आयेंगे। यह घेरा पाप का घेरा है इसे आज पहचानना ज़रूरी है।

इस बात पर गौर करने की ज़रूरत है कि साइंस के सिद्धांत में ही मनुष्य के भाव और संवेदनाओं को कोई स्थान नहीं है, इसलिए जीव के दुःख के प्रति ये उदासीन है, नैतिकता से रहित है, जो स्पष्टतः साइंसी सभ्यता के व्यवहार व व्यवस्था में भी परिलक्षित होता है। मनुष्य की उपस्थिति से साइंस के नियम विकृत न होने पाये इसी ढंग से इसके सिद्धांतों का ढांचा खड़ा किया गया है। साइंस नैतिकता निरपेक्ष है। यह मनुष्य और प्रकृति दोनों का विरोधी रहा है। **प्रकृति और मनुष्य समाज दोनों की तबाही पर आधारित प्रक्रियाओं को 'साइंसी सभ्यता' ने 'विकास' का नाम दिया है।** यह साइंसी-सभ्यता पाखंडी ज्ञान पर आधारित है। इसलिए **बेहतर दुनिया बनाने के मार्ग में प्रमुख बाधा पूरब और पश्चिम के संघर्ष नहीं, बल्कि ज्ञान के क्षेत्र पर साइंस का एकाधिकार और इस पर आधारित यह पाखंडी वैश्विक 'साइंसी सभ्यता' में है।**

साइंसी सभ्यता को चुनौती :

इस विनाशकारी वैश्विक साइंसी सभ्यता को 20वीं सदी के उत्तरार्ध से चुनौती मिलना शुरू हो गया। पश्चिमी देशों में 1960 के दशक में उठे महिला आन्दोलन और उसके विचारकों ने साइंस के इस पाखण्ड पर सवाल उठाकर मौलिक शुरुआत की, इसे स्त्री विरोधी कहा और एक स्त्री-दृष्टि से जगत को समझने की आवश्यकता को रेखांकित किया। हालाँकि हमारे देश का महिला आन्दोलन इन सवालों पर मौन रहा। भारत में 1990 के दशक में पेट्रियाटिक पीपुल ओरियंटेड

साइंस एंड टेक्नोलोजी नाम के संगठन के नेतृत्व में बड़े-बड़े सम्मलेन आयोजित हुए। इन सम्मेलनों के मार्फ़त भारत की साइंस और तकनीकी की परम्पराओं को सामने लाकर **ज्ञान के क्षेत्र पर साइंस के नाजायज़ एकाधिकार को सार्वजनिक बहस में लाया।** इन सम्मेलनों में साइंस के अलावा ज्ञान की अन्य धाराओं को जायज़ माना जाये इसके पक्ष में सशक्त तर्क दिए गये। इसी कड़ी में **1998 में वाराणसी में हुये लोकविद्या महाधिवेशन** में किसान ज्ञान सम्मलेन, कारीगर ज्ञान सम्मलेन और स्त्री ज्ञान सम्मेलन हुए जिनके मार्फ़त समाज में उपस्थित समृद्ध और जीवंत ज्ञान परम्पराओं को उजागर किया गया। लोकविद्या समाज में स्थित जीवंत ज्ञान है, जो सतत् नवीन होता रहता है। **इस महाधिवेशन ने यह स्थापित किया कि सामान्य लोगों की पहल और शक्ति का एक बहुत बड़ा स्रोत लोकविद्या और लोकस्मृति में है।**

21वीं सदी के शुरू में ही दुनिया के कुछ अन्य देशों में, विशेषकर दक्षिण अमेरिका में भी उनकी अपनी-अपनी ज्ञान-धाराओं ने सार्वजनिक जीवन में प्रखर उपस्थिति दर्ज की और साइंस के एकछत्र राज को चुनौती मिलने लगी।

मायावी साम्राज्य का निर्माण :

लेकिन इसी दौर में दुनिया में एक बड़ी हलचल पैदा हुई। यह हलचल औद्योगिक उत्पादन की इकाइयों के बंद होने, वैश्वीकरण के आने, युद्ध की नई तकनीक और सूचना संचार प्रौद्योगिकी के आने से पैदा हुई।

औद्योगिक पूँजी से मुनाफे में आये ठहराव के चलते 20वीं सदी के अंत के निकट उत्पादन के बड़े उद्योग एक-एक कर बंद होते चले गए और उत्पादन की व्यवस्थायें बिखर कर घरों में कारीगरों के हाथ आने लगीं। यह बदलाव औद्योगिक पूंजी के वित्तीय पूँजी में बदलने के साथ होता गया। अब औद्योगिक इकाइयां नहीं बल्कि 'बाज़ार' मुनाफा उठाने के स्थान बन गए। उत्पादन की जगह व्यापार मुनाफा कमाने की प्रमुख गतिविधि बन गई। इस बदलाव के चलते उत्पादन के साधन और प्रक्रियाओं पर निवेश करने की बजाय बाजारों में उत्पादन को लाने और व्यापार के साधन और तकनीक को विकसित करने पर जोर दिया जाने लगा। किसान, कारीगर और सेवा-उत्पादन में लगे समाजों को नए सिरे से अधिक गुलामी और बदहाली के जाल में फांसने की व्यवस्थाएं बनाई जाने लगीं। वैश्वीकरण की प्रक्रियाएं, समझौते,

कानून व शर्तें आदि बने। दूर-दूर के व्यापार और कोने-कोने के बाज़ारों को आपस में जोड़ने व उत्पादन को लाने-लेजाने के प्रबंधन को सूचना-संपर्क प्रौद्योगिकी (इन्टरनेट) ने चुस्त और तेज़ बना दिया। इसी प्रौद्योगिकी ने युद्ध, विशेषतः मानवरहित युद्ध को एक नए चरण में लाकर खड़ा कर दिया परिणामतः इस प्रौद्योगिकी में शोध और निवेश में विशेष तेज़ी आई। **ऐसे में एक तरफ साइंस (भौतिक ज्ञान) का क्षेत्र संकुचित हो गया और दूसरी ओर इन्टरनेट ने ज्ञान के क्षेत्र में एक नया और बड़ा दरवाज़ा खोल दिया।**

शुरूआती दौर में यह लगा कि इन्टरनेट-ज्ञान साइंस का ही अगला कदम है। लेकिन बहुत जल्दी ही यह भ्रम टूट गया। **अब साइंस मात्र एक ज्ञान-संप्रदाय के रूप में नज़र आने लगा।** यह सही है कि साइंस के बल पर खड़े राजनैतिक-आर्थिक–तकनीकी ढांचे का इन्टरनेट-ज्ञान को पूरा सहयोग प्राप्त हुआ लेकिन इन्टरनेट का ज्ञान, इसके मूल्य और तर्क साइंस से एकदम भिन्न हैं। इससे एक **'मायावी दुनिया'** बनाने का दावा किया जा रहा है। निश्चित ही इसमें सत्य, सत्ता और मनुष्य की अवधारणा क्या है, यह अभी पूरी तरह स्पष्ट नहीं है, लेकिन एक बात साफ़ है कि इस ज्ञान और इसकी दुनिया का भी नैतिकता और मानवीय मूल्यों से कोई सम्बन्ध नहीं है।

साइंस से अपना अलग वजूद स्थापित करने में इन्टरनेट (सूचना-संपर्क प्रौद्योगिकी) को दुनियाभर के समाजों/लोगों के पास जो ज्ञान है, लोकविद्या है, उसे ज्ञान की मान्यता देनी पड़ी है। वैश्वीकरण में हर तरह के उत्पादन को बाज़ार में ले आने के लिए ऐसी मान्यता की ज़रुरत भी थी। साइंस ने लोकविद्या को ज्ञान मानने से इनकार किया। इसलिए पूरे औद्योगिक युग में लोकविद्या को पिछड़ी, रूढ़िवादी, और अप्रासंगिक कहा जाता रहा। इन्टरनेट ने लोकविद्या को ज्ञान-क्षेत्र में स्थान तो दिया लेकिन बराबर की साथी ज्ञान-धारा के रूप में नहीं बल्कि उसे निगल कर स्वयं को समृद्ध करने के लिए। इसका नतीजा यह हुआ कि लोकविद्या के स्वामी-समाज जिन्होंने औद्योगिक युग की तबाही को झेला और किसी तरह खुद को जिंदा रखा था, वैश्वीकरण के इस दौर में ऐसे बदतर हालात में धकेल दिए गए कि उनके जिंदा रहने की उम्मीद ही ख़त्म हो रही है।

औद्योगीकरण और मशीनीकरण ने जिस तरह किसान और कारीगरों की तबाही की थी उसी तरह वैश्वीकरण के इस दौर में एक बार फिर बहुत बड़े पैमाने पर किसान, कारीगर, आदिवासी, छोटे दुकानदार और महिलाओं को अपने रोज़गार, निवास और समाज से विस्थापित किया, उनके संसाधनों को उनसे दूर कर दिया और उनके ज्ञान को भी मात्र सूचना में बदल दिया। सूचना-संचार प्रौद्योगिकी के बल पर बहुत बड़े मुनाफे के व्यापार और बाज़ार का विस्तार किया। यही नहीं स्थानीय समाजों के प्राकृतिक संसाधनों के साथ रिश्तों को ध्वस्त कर प्रकृति का दोहन बहुत तेज कर दिया। औद्योगिक युग में जिस तरह बड़े उद्योगों और साइंस की शिक्षा और शोध को सरकारों का पूरा समर्थन मिला वैसे ही सूचना युग में सूचना उद्योग और तकनीकी को सरकारों का पूर्ण समर्थन मिला। किसान, कारीगर, मजदूर, आदिवासी और सामान्य जन के ज्ञान, अधिकार और आवश्यकताओं को एक किनारे कर दिया। **इसको 'राष्ट्र' का 'विकास' कहा गया और ऐसा 'विकास' ही सरकारों का ध्येय बन गया। ऐसे 'विकास' मे 'राष्ट्र' और 'समाज' एक दूसरे के सहयोगी नहीं रह गये। 'समाज' की बलि देकर यह 'मायावी राष्ट्र' और 'मायावी साम्राज्य' का निर्माण है।**

मायावी साम्राज्य को नैतिक-समाज-दर्शन की चुनौती :

21 वीं सदी के प्रारंभ से ही नए विचारों ने दस्तक देना शुरू कर दिया। ये विचार दुनिया के अलग-अलग देशों से आये। ये साइंस और मायावी ज्ञान से भिन्न हैं तथा लोकविद्या पर आधारित दिखाई देते हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण का नीचे उल्लेख किया जा रहा है।

- दक्षिण अमेरिका के देश बोलीविया और एक्वाडोर ने क्रमशः **'धरती माँ' और 'अच्छा जीवन' का विचार** अपनी-अपनी भूमि की लोकविद्या-दर्शन परम्पराओं के आधार पर गढ़ कर मजबूती के साथ सामने लाया है। कोचाबाम्बा में वर्ष 2010 में जलवायु परिवर्तन के विषय पर हुए वैश्विक सम्मलेन में इन दोनों ही दर्शनों ने साइंसी सभ्यता और मायावी साम्राज्य का मुकाबला करने के लिये लोकविद्या आधारित इन नैतिक दर्शनों को दुनिया के सामने रखा। इस सम्मलेन में कई देशों के लोगों की बड़ी संख्या में भागीदारी हुई थीं। तबसे लोकविद्या आधारित इस नैतिक दर्शन को विकसित करने के प्रयास सतत् जारी है।

- अंतर्राष्ट्रीय किसान संगठन वाया कम्पेसिना ने किसान समाजों के ज्ञान और क्षमता को आधार बना कर **'खाद्य संप्रभुता'** का विचार सामने लाया है। इस विचार में खाद्य उत्पादन क्षेत्र पर बहुर्राष्ट्रीय कंपनियों के बढ़ते साम्राज्य को चुनौती देने का माकूल आधार है।

- यूरोप और अमेरिका के विश्वविद्यालयों के छात्रों ने वर्ष 2006 से शिक्षा-क्षेत्र के निजीकरण और शिक्षा के बाजारीकरण पर अपना सशक्त विरोध ज़ाहिर करना शुरू किया। **नए मायावी साम्राज्य ने शिक्षा के क्षेत्रों में निहित उपलब्ध सांस्कृतिक विविधता पर बड़ा आघात किया हैं,** जिसका विरोध इस छात्र आन्दोलन ने आगे बढ़कर किया। उन्होंने कहा कि विश्वविद्यालयों में **'मरा हुआ ज्ञान'** पढाया जाता है और वे **'जीवंत ज्ञान'** के पैरोकार हैं। इस आन्दोलन ने संगठन और विरोध के नयें तरीके भी इजाद किये।

- भारत में इस सदी के शुरू से ही लोकविद्या और लोकविद्या-दर्शन की शक्ति की समझ के प्रति झुकाव दिखाई देने लगा। 20वीं सदी के अंतिम दशक से 'विकास' के नाम पर साइंसी सभ्यता के आक्रामक रवैये के तहत जगह-जगह लोगों के संसाधनों पर क़ब्ज़ा करने का दौर चला। तब किसानों, आदिवासियों, कारीगरों और छोटे-छोटे दुकानदारों ने अपने स्तर पर संगठित होकर इसका विरोध किया। जल-जंगल-ज़मीन के लिए स्थानीय/क्षेत्रीय समाजों ने संघर्ष शुरू किये। वाराणसी में वर्ष 1998 में हुए लोकविद्या महाधिवेशन ने इन्हीं संघर्षों की पृष्ठभूमि में लोकविद्या की शक्ति को उजागर किया। लोकविद्या जन आन्दोलन लोकविद्या-समाजों के ये संघर्ष और आन्दोलन एक **'ज्ञान आन्दोलन'** के रूप में देखने का आग्रह करता है। लोकविद्या-दर्शन को एक नैतिक ज्ञान आन्दोलन के रूप में गढ़ता है।

'अविरल और निर्मल गंगा आन्दोलन' और बंगलुरु के ग्राम सेवा संघ के **'पवित्र आर्थिकी'** के लिए सत्याग्रह जैसे आन्दोलन लोकस्थ ज्ञान की शक्ति को ही सशक्त करने वाले विचारों के आन्दोलन हैं।

●

राजा और राज्य

इतिहास के मार्फ़त मिली जानकारी के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इस देश के राजकर्ताओं, दार्शनिकों और संतों में सभी जातियों के लोग रहे हैं। इसके बावजूद हमारे विद्यालय/विश्वविद्यालयों के पठन-पाठन करने वालों ने यह समझ पैदा की है कि हमारे समाज में राज करने के अधिकार केवल क्षत्रिय जाति के लोगों के पास थे। जबकि अधिकांश काल में इस भू-भाग में किसान, आदिवासी, पशुपालक और कारीगर जातियों के राजा रहे। जिस गौरवशाली परंपरा का बखान किया जाता है वह सब इन्हीं लोकविद्या-समाज के राजाओं और समाजों की देन रही (देखें अभ्यास)। यहाँ की दर्शन और ज्ञान की परम्पराओं को देखें तो भी यही दिखाई देता है कि यहाँ वेदों की रचना से लेकर तो 17वीं सदी तक ज्ञान के क्षेत्र में (यानी दर्शन, कला, चिकित्सा, धातुकीय, तकनीकी, शिल्प, कृषि जैसे सभी ज्ञान-क्षेत्रों में सिद्धांत व ग्रन्थ रचना आदि में भी) गैर-ब्राह्मण जाति के लोगों का महत्वपूर्ण योगदान रहा है, जो यह दिखाता है कि ज्ञान पर केवल ब्राह्मण जाति का एकाधिकार नहीं रहा। उच्च कोटि के दार्शनिक विचारों के प्रणेताओं में गैर-ब्राह्मण जातियों के लोग रहे हैं। इसके बावजूद ज्ञान-क्षेत्र केवल ब्राह्मणों के हाथ रहा यही समझ हमारे शिक्षा संस्थानों ने बनाई। हमारे समाज के कई विचारकों के अनुसार आज जो जातियां हैं उनमें से कई जातियां आज से 400-500 वर्ष पूर्व ही संगठित रूप ले पाई हैं। **जातियों की यह व्यवस्था अनुल्लंघनीय और श्रेणीबद्ध है इसकी बात तो केवल पिछले 200 साल से प्रचारित कर वास्तविक बनती दिखाई देती है। सवर्ण जातियों को नौकरशाही में शामिल कर अंग्रेजों के शासन ने समाज में जातिगत ऊंच-नीच को पुख्ता बना देने का कार्य अवश्य किया जिससे आज जाति यह एक रूढ़ व्यवस्था दिखाई देती है।** हमारी जाति व्यवस्था के बारे में अधिकतर जानकारी हमें इतिहास (यानि अंग्रेजी शासकों की दृष्टि से लिखे ग्रंथों) से मिलती है। चूँकि यूरोप के देशों का इस्लाम और इस्लामी देशों से शत्रुता का भाव था ऐसे में यही भाव उन्होंने औपनिवेशिक देशों (जैसे भारत) पर भी थोप दिया और अपनी सत्ता का रास्ता आसान बना लिया। इसी इतिहास का सहारा लेकर आज़ाद भारत की राजनैतिक पार्टियाँ भी अपना वैचारिक

आधार और रणनीति बनाती रही हैं। भारत में लोकविद्या-समाज को बाँटने, लूटने और पूंजीवादी व्यवस्था को मज़बूत करने में इस समझ की बड़ी भूमिका रही है जिसे वैश्वीकरण की व्यवस्थाएं भी इस्तेमाल कर रही हैं।

न्यायपूर्ण समाज रचना के लिए जाति के सवाल पर नए सिरे से सोच की आवश्यकता है। **इस बात को ध्यान में रखना ज़रूरी है कि जाति-व्यवस्था स्वायत्त समाजों के ढांचे का अंग रही है न कि केन्द्रीयकृत समाज-व्यवस्था का अंग।** आज केन्द्रीयकृत राज्यसत्ता के तहत जाति ही नहीं बल्कि अन्य अनेक क्षेत्रों में कार्यरत स्वायत्त सत्ताओं (पंचायत, शिक्षा, सिंचाई व जलव्यवस्था आदि) की भूमिका को गुलाम बना दिया गया है। ऐसे में आज जो इनका स्वरूप दिखाई देता है वह केंद्रीय पूंजीवादी राज्यसत्ता का दिया हुआ है। ऐसे में सवाल तो यह होना चाहिए कि आज स्वायत्त सत्ताओं के समकालीन रूप क्या हैं और कैसे होने चाहिए? क्योंकि स्वायत्त व्यवस्थाओं से अंतिम आदमी तक सार्थक सक्रियता के रास्ते बनते हैं। इस कार्य में और न्यायपूर्ण समाज की पुनर्रचना के लिए लोकस्मृति का सहारा अवश्य मददगार होगा।

लोकस्मृति में दर्ज कथा-कहानियों में जिस समाज व्यवस्था का चित्र उभरता है उसमें राजा और समाज के बीच जीवंत संवाद की परम्परा रही है। इस संवाद का स्वरुप कहानी, कविता, गीत आदि में सुरक्षित कर हर युग में उसका पुनर्निर्माण कर लिया जाता रहा। इनमें राजा और उसके सहयोगी स्वयं पहल लेकर समाज के बीच आते-जाते और समाज के ज्ञानियों से वार्ता व विमर्श करते दिखाए जाते हैं। इस संवाद और मिलने-जुलने में स्वराज की बुनियाद का एक मज़बूत खम्भा रहा। इसमें अपवाद भी रहे होंगे लेकिन राजसत्ता के लिए यह आदर्श बना रहा। इस तरह समाज की समस्याओं का निदान करने में राजा शास्त्रों की मदद लेते नहीं दिखाए जाते बल्कि लोक में स्थित जीवंत ज्ञान और मूल्यों की सहायता लेकर हल निकालते दिखाये जाते रहे। राज्य का चरित्र सामान्य जीवन में और सामान्य जन के पास विद्यमान ज्ञान को सम्मान देने में माना गया।

इतिहास शास्त्र के कुछ विचारकों के अनुसार भी यहाँ गाँव, जाति, धर्म आदि की आंतरिक व्यवस्थाओं में राजा का प्रत्यक्ष दखल नहीं होता था। बारहों महीने वेतनधारी सेना उपलब्ध रहे इसकी कोई व्यवस्था नहीं थीं। यानि युद्ध ये

बारम्बार होने वाली घटना नहीं थे। कृषि और उद्योग के लिए समकालीन पश्चिमी देशों की तरह दास/मजदूरों की फ़ौज होने के उल्लेख भी नहीं मिलते। 17वीं सदी में यूरोप से भारत आये विचारकों और अधिकारियों की रपटों के कागजात यह दिखलाते हैं कि उस समय भारत के गांवों में बसे लोगों की आमदनी उनके देश के किसान और कारीगरों से अधिक थी। आश्चर्य नहीं कि ऐसे राज और समाज के दर्शन व संचालन में **अहिंसा और न्याय** महत्वपूर्ण व कारगर मूल्य रहे। लोकस्मृति के लिए राजा विक्रमादित्य और उसकी न्यायप्रियता बहुत अधिक मायने रखती है, उनके आदर्श को साकार करने में राजा भोज की कठिन कसरत को वह संजोती है। राजा हर्ष कब हुए और उन्होंने क्या-क्या किया यह लोकस्मृति के लिए बहुत मायने नही रखता। लेकिन राजा हर्ष द्वारा चलाये दान उत्सव को लोकस्मृति ही हमें कुम्भ/संक्रांत उत्सव के मार्फ़त याद दिलाती है, जिसमें यह सन्देश निहित है कि राज्य सञ्चालन के लिए राजा समाज से जो लेता है उसको उसे वापस करना है। राजा बलि की प्रजा के प्रति कर्तव्यपरायणता और प्रतिबद्धता लोकस्मृति के जरिये राजा और राज्य का एक आदर्श प्रस्तुत करती है। कारीगर और किसान समाजों ने अपने उत्पादन, प्रक्रिया, उपकरण, तकनीकी, भण्डारण, वितरण और उपभोग के तरीकों को गीतों में जिस तरह संजोकर रखा है वह जीव-जड़ जगत से **प्रेम, अहिंसा और त्याग** का जीवंत दर्शन है। इस दर्शन की बात आज का संगठित-शास्त्र नहीं करता, यह समाज का दुर्भाग्य नहीं तो क्या है?

●

अंत में ...

हम जब खुद के या अपने परिवार के भूतकाल के बारे में बात करते हैं तो अक्सर जो अच्छी बातें (गुण, सकारात्मक या लोकहितकारी) होती हैं उन्हीं को याद करते हैं, अपनाते भी हैं। परिवार, कुनबे, जाति और समाजों के विस्तार होते जाते घेरों में भी कम अधिक पैमाने पर यही क्रिया होती है। नकारात्मक यादों की भूमिका मात्र सतर्कता बरतने के लिए होती है न कि आगे बढ़ने के रास्तों को बनाने में। लोकस्मृति जानकारी, रूमानी कथा, कहानी, कविता, व्यंग्य और हास्य का खजाना ही नहीं होती बल्कि एक बहुआयामी सोच को आकार देने की शक्ति का स्रोत है। यह हमें सचेत करती है कि कारण और परिणाम के मार्फ़त सोच रचना का आधार नहीं बन पाती। गौतम बुद्ध के अनुसार कुछ सवालों को नहीं पूछा जाना चाहिए। जैसे, किसी का भी आदि (मूल) क्या है, अंत क्या हैं, अपने बारे में सब जान लेने के और सबके बारे में सब जान लेने से सम्बंधित सवाल हमें रचना की प्रेरणा नहीं देते, इन्हें नहीं पूछा जाना चाहिए। मात्र जानकारी नैतिक रचना का आधार नहीं बन पातीं। साइंस ने **'जानकारी'** को इतना महत्वपूर्ण बना दिया है कि हमारे विद्यालय और विश्वविद्यालय 'ज्ञान' का निर्माण नहीं कर पा रहे बल्कि जानकारियों को बटोरने और बाँटने वाले स्थान बना दिये गये हैं। जबकि बहुधा विचारक, दार्शनिक, संत, किसान, कारीगर, मातायें, कलाकार और लोक नेतृत्व करने वाले लोग बीती घटनाओं के क्रमवार स्मरण पर जोर देते नहीं दिखाई देते और न निश्चित आंकड़ों में चीज़ों को मापने/तौलने पर जोर देते हैं। लेकिन वे उनके नैतिक सन्देश को ज़रूर महत्त्व देते हैं और उसी आधार पर रचना के अगले सोपान चढ़ते दिखाई देते हैं। गाँधी ने लोकस्मृति का अनेकों बार सहारा लेकर बड़े-बड़े आंदोलनों को आकार दिया। ये नैतिक आंदोलनों का रूप ले पाये। उन्होंने इतिहास, पुराण और धार्मिक कहानियों में उन्हीं का ज़िक्र किया जो कमज़ोर से कमज़ोर व्यक्ति को उसकी अपनी ताकत का यकीन दिला सकें। उन्होंने संगठित धर्म या इतिहास-शास्त्र (आधुनिक साइंटिफिक ज्ञान) को अपने कार्य और विचार का आधार नहीं बनाया बल्कि कई बार तो उन्होंने इसे बुद्धि-विलास ही माना है। बुद्धि-विलास कुतर्क और काल्पनिक अतिरेक को जन्म देता है। रैदास के अनुसार 'पूर्ण शुद्ध' की अवधारणा

व्यर्थ है। दुनिया की कोई वस्तु, जीव, जड़ 'पूर्ण शुद्ध' नहीं होता। शुद्धता कोई पैमाना नहीं है। सन्देश है कि जो नैतिक है उसे ही ग्रहण करो। 'पूर्ण शुद्ध' की कल्पना रचना का संसार गढ़ने की शक्ति नहीं रखता है और अशुद्धता/कमी/दुर्गुण को खोजने और गिनाने की क्रिया भी रचनात्मक नहीं होती। तो 'पूर्ण शुद्ध' कि खोज में समय न ज़ाया करो। जो सकारात्मक है, लोकहितकारी है, नैतिक है उसी पर नज़र और मन को एकाग्र करने का आग्रह है। कबीर का कहना है कि ग़र ज्ञान को तौलने की बात हो और सारा संगठित-ज्ञान एक तरफ हो व दूसरी तरफ मात्र प्रेम, तो प्रेम का पलड़ा भारी रहेगा। 'प्रेम' यह अमूल्य ज्ञान है। इस भू-भाग का यह 'बराबरी' का विचार है। विनोबा के अनुसार इतिहास की बहुत सी बातें भूलना भी ज़रूरी है। यह भी रचनाकार्य का एक अंग है। इतिहास-शास्त्र में ऐसी कई बातें हैं जिन्हें भुलाना ज़रूरी है। आज जिस तरह एक दूसरे से लड़ने-लड़ाने, बदला लेने के भावों और क्रियाओं को उकसाया जा रहा है वह हमें मनुष्य नहीं बना रहने देगा। मनुष्य की पहचान उसकी नैतिक रचनात्मक शक्तियों से ही है। और नैतिक शक्ति को हासिल करने के लिए किसी ग्रन्थ, धर्म, शिक्षा, डिग्री, पद, उम्र, की दरकार नहीं होती। अगर किसी बात की ज़रूरत है तो वह यह कि सामान्य जीवन जिस तरह जीव-जड़-जगत के साथ सहजीवन के मूल्यों का निर्माण करता है, उससे एकलय होकर उन्हें आत्मसात करें। निसंदेह लोकस्मृति इसमें हमारी मदद करती है।

यदि हम लोकस्मृति की महत्ता को समझें तो आज की स्थिति में सत्य और न्याय का मार्ग खोजने में बड़ी मदद हो सकती है। जब धर्म और ज्ञान-विज्ञान दोनों ही बड़ी-बड़ी ठेकेदारियों में सिमट गये हों, तब शायद ज्ञान और श्रद्धा की समन्वित परंपरा, जो लोकस्मृति के रूप में हमारे पास है, हमें कुछ रास्ता दिखा सकती है। पढ़े-लिखे लोग सामान्य महिलाओं से, किसानों और कारीगरों से, आदिवासी जमातों से यह सीख सकते हैं कि ज्ञान और धर्म, तर्क और श्रद्धा ये कैसे एकीकृत रूप में कर्म का निर्धारण करते हैं।

●

लोकविद्या भाईचारा विद्यालय

परिचय

लोकविद्या आन्दोलन ने वर्ष 1997 में वाराणसी में सारनाथ के पास एक गाँव, खजुहीं में भाईचारा विद्यालय खोलकर लोकविद्या की दृष्टि से शिक्षा पर विचार व कार्य शुरू हुआ। 1998 में वाराणसी में लोकविद्या महाधिवेशन हुआ और ग्राम दीनापुर में एक और भाईचारा विद्यालय खोलकर इस कार्य को तेज़ी मिली। आज़ादी के पचास वर्षों बाद स्कूलों के मार्फ़त दी जा रही शिक्षा सबको (देश की पूरी आबादी को) मिलेगी इसकी कोई संभावना नज़र नहीं आ रही थी। यही नहीं, शिक्षा का सार और पद्धति भी बच्चों/युवाओं को समाज और देश के लिए काबिल नागरिक बनाने का आधार बनती नहीं दिखाई दे रही थी। अंग्रेजी का बढ़ता महत्त्व, निजी स्कूलों की तेज़ी से बढती संख्या, महँगी शिक्षा, समाज और सामान्य जीवन से दूरियां बढ़ाते जा रहे शिक्षा के मूल्य आदि से शिक्षा क्षेत्र ग्रस्त रहा। इस दौरान शिक्षा की बुनियादी अवधारणा पर कई विचारकों, सामाजिक कार्यकर्ताओं, शिक्षाविदों व संगठनों ने कार्य किये, कई प्रयोग हुये। भाईचारा विद्यालय ऐसे ही दौर में शुरू हुये।

भाईचारा विद्यालय की शुरुआत इस समझ के साथ हुई कि शिक्षा-क्षेत्र में व्याप्त समस्याओं का हल 'ज्ञान' के सवाल को हल किये बिना संभव नहीं है। वर्तमान शिक्षा पद्धति और ढांचे में **'ज्ञान'** पर सवाल करने/उठाने की कोई जगह नही है। यह मान लिया गया है कि देश को आधुनिक/प्रगतिशील बनाने के लिये बड़े उद्योग तो चाहिये ही और इनके लिए साइंस, तकनीकी, वित्तीय, व्यावसायिक, अंतर्राष्ट्रीय संबंधों आदि के जानकार उच्च शिक्षित युवाओं की ज़रूरत है। ऐसे में 'ज्ञान' का सवाल हल हो चुका मान लिया गया और पश्चिमी देशों की नक़ल से उच्च शिक्षा का सार व ढांचा बना लिया गया, इसके उद्देश्य, मूल्य और पद्धति तय हो गई। प्राथमिक शिक्षा के लिए कुछ अधिक सोचने की ज़रूरत थी नहीं क्योंकि इसे उच्च शिक्षा के लिए निर्धारित मूल्यों का अनुसरण भर ही करना था।

आज कंप्यूटर-इन्टरनेट के युग में वस्तुओं के उत्पादन के उद्योगों के साथ शिक्षा, चिकित्सा, व्यापार, मनोरंजन, मिडिया आदि सभी सेवायें बड़े-बड़े उद्योग बन चुकी हैं। इन सेवाओं के उद्यम बड़ी-बड़ी राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय कंपनियों के मातहत दुनिया भर के बाज़ारों में पहुँच बनाती हैं और मुनाफे को बहुत अधिक उछाल दे लेती हैं। हालाँकि इस युग को 'ज्ञान युग' घोषित किया है लेकिन वास्तव में समाज में हो रही हर गतिविधि, हर भाव, हर सूचना, हर ज्ञान की क्रिया पर भारी भरकम मुनाफा कमाने की व्यवस्थाओं का निर्माण हो रहा है। ऐसे में नैतिक पक्ष को सार्वजनिक जीवन से बेदखल कर दिया गया है और स्कूल-कालेज की शिक्षा में 'ज्ञान' का सवाल उठने ही नहीं दिया जाता है।

भाईचारा विद्यालय ने **'ज्ञान'** को प्रमुख मुद्दा बनाया। इस कार्य में यह समझ रही कि ज्ञान-क्षेत्र में ज्ञान की अनेक धारायें बहती रहती हैं, जैसे धरती पर अनेक छोटी-बड़ी जलधारायें बहती हैं। किसी एक ही ज्ञान-धारा का ज्ञान-क्षेत्र पर एकाधिकार ज्ञान को सीमित करता है और मनुष्य की सोच, सक्रियता और उसके न्यायपूर्ण अस्तित्व को संकुचित करता है। ऐसे में समाज और देश की प्रगति में सभी ज्ञान धाराओं को न्यायपूर्ण स्थान मिलना ज़रूरी है। समाज के सभी लोगों के ज्ञान को देश के निर्माण में लगाने का यह सबसे कारगर उपाय हो सकता है। समाज में खुशहाली और समता लाने का भी यह एक रास्ता हो सकता है। संकट की अवस्थाओं से समाज को उबारने में ये ज्ञान धारायें अनेक विकल्पों को उपलब्ध कराती है। समाज और सामान्य जीवन में बहती ज्ञान की इन छोटी-बड़ी धाराओं की पहचान करने में लोकविद्या विचार सहायक है।

भाईचारा विद्यालय ज्ञान की धाराओं में ऊँच-नीच की खिलाफत करता है और ज्ञान के क्षेत्र पर एक ही ज्ञान-धारा (जैसी आज साइंस की है) की इजारेदारी का विरोध करता है। ज्ञान पर इजारेदारी समाज में गैर बराबरी पैदा करती है और विविधता और सहजीवन की बुनियाद को ध्वस्त करती है। भाईचारा विद्यालय सभी ज्ञान-धाराओं के बीच भाईचारे के रिश्ते को बनाने और दृढ़ करने का पक्षधर है।

वाराणसी में सारनाथ के आस-पास के कुछ गांवों में भाईचारा विद्यालय चलाये जाते रहे हैं। ये गाँव थे – दीनापुर, सरायमोहाना, खजुहीं, सिंघपुर, हीरामनपुर,

ककरहिया, नेवादा, घूरिपुर, बरईपुर, नवापुरा, राज्नाहिया, पंचक्रोशी, टड़िया, कपिलधारा, गुलतर, सुल्तानपुर, खालिसपुर, भैंसोड़ी छाहीं, पतेरवां, रघुनाथपुर, सीयों, फूलपुर, सलारपुर, बभनपुरा, मुस्तफाबाद, पंचरांव, नगवां, दामोदरपुर, कोटवां आदि। शहर के काष्ठ खिलौना कारीगरों की बस्ती में भी एक भाईचारा विद्यालय चलाया गया। इसके अलावा जिले के अन्य विद्यालयों में जाकर शिक्षक और छात्रों के बीच पोस्टर्स और बैठकों के मार्फ़त 'शिक्षा वार्ता' आयोजित कर लोकविद्या भाईचारे के विचारों को सामने रखा गया।

भाईचारा विद्यालयों की मूल मान्यता यह है कि जो लोग स्कूल-कालेज नहीं गए, वे भी ज्ञानी होते हैं और समाज और देश की समृद्धि में इनके ज्ञान का बहुत बड़ा योगदान है। वे अपना ज्ञान समाज से अपने बूते पर हासिल करते हैं। उनका यह ज्ञान, लोकविद्या, विश्वविद्यालय के ज्ञान से किसी अर्थ में कम नहीं होता। किसान, कारीगर, आदिवासी और छोटी-छोटी पूंजी से दुकानदारी करने वाले परिवार लोकविद्या के ज्ञानी होते हैं। इनकी विद्या में इनकी शक्ति और एकता का सूत्र है। इन सभी समाजों की बदहाली का कारण यह है कि आधुनिक राजसत्ताओं ने इनके ज्ञान, लोकविद्या को कभी भी ज्ञान का दर्जा नहीं दिया। लोकविद्या को विश्वविद्यालय की विद्या के बराबर का दर्जा हो तो इन सभी समाजों की सामाजिक प्रतिष्ठा और आर्थिक बराबरी के रास्ते खुलते हैं।

भाईचारा विद्यालय की सोच है,
विद्या वही जो लोकहित साधे।
शिक्षा वही जो गैरबराबरी दूर करे।
श्रम वही जो इज्जत की रोटी दे।

●

पढ़ने के लिए साहित्य सूची

सामान्य लोगों के पास जो ज्ञान, लोकस्थ ज्ञान (लोकविद्या) है, उसे उदघाटित करने वाले साहित्य को भाईचारा विद्यालय की पठन-पाठन सामग्री में प्रमुखता से स्थान दिया जाना चाहिए। जीवन के संगठन में यानि अर्थ, राज, शिक्षा, उत्पादन, वितरण आदि सभी क्षेत्रों में किसान, कारीगर, सामान्य स्त्रियों और आदिवासी समाजों के पास जो ज्ञान है उसे पहचानने और उसकी शक्ति को समझने में सहायक बन सकें ऐसे साहित्य को भाईचारा विद्यालय में उपलब्ध कराया जाना चाहिए। लोककथाओं और लोक साहित्य की समृद्ध विरासत से परिचय कराया जाना चाहिए।

भाईचारा विद्यालयों में साहित्य पढने के साथ ही समाज में सामान्य लोगों के पास जाकर उनके ज्ञान और विचार की समृद्ध दुनिया से सीधे सीखने के प्रयासों पर विशेष बल दिया जाता है।

सामान्य जीवन में सह अस्तित्व के विचार को समकालीन रूप देने की चाहत पैदा कर सकें इसके लिए भाईचारा विद्यालय में विविध दर्शन परम्पराओं और ज्ञान परम्पराओं में मनुष्य, जीव तथा प्रकृति के बीच आपसी संबंधों के बारे में जानकारी मिलनी चाहिए। सत्य, अहिंसा, भाईचारा, न्याय, त्याग और क्षमा जैसे मूल्यों को समाहित करने वाली कहानियों, घटनाओं आदि से सम्बंधित साहित्य उपलब्ध होना चाहिए। अन्याय का मुकाबला करने के विचार और कार्य की परंपरा से परिचय कराने वाला साहित्य होना चाहिए।

वर्तमान में हो रही घटनाओं पर वार्ता होनी चाहिए और इनमें सही-गलत, व्यापक व दूरगामी हित-अहित की पहचान करने की काबिलियत को बढ़ाने के प्रयास होने चाहिए। नीचे दी गई साहित्य की सूची एक संकेत मात्र है।

बच्चों के लिए

- लोककथायें
- गुणाढ़य की कथायें
- संतों की कहानियां

- राजा बलि की कहानी
- राजा भोज की कहानी
- राजा हर्ष की कहानी
- स्थानीय कहानियां और कहावतें
- अकबर बीरबल की कहानी – शहंशाह को कौन सिखाएगा?

युवाओं के लिए

- संत साहित्य
- हिन्द स्वराज — गाँधी
- कलादर्शन — निहार रंजन राय, कुमारस्वामी,
- भारतीय दर्शन — दयाकृष्ण
- भारतीय परंपरा की खोज — भगवान सिंह
- दूसरी परंपरा — नामवर सिंह
- बौद्धिक सत्याग्रह : आधुनिक विज्ञान को गाँधी की चुनौती—सुनील सहस्रबुद्धे
- भारत में शिक्षा : सुन्दर सदाबहार वृक्ष —धरमपाल
- भारत का इतिहास —डी.डी. कोसाम्बी
- लोकनीति — विनोबा
- 18 वीं सदी में भारत में ज्ञान परम्पराएं —धरमपाल
- लोकविद्या साहित्य
- स्थानीय और क्षेत्रीय भाषा की कहनी, कविता, उपन्यास, लेख, निबंध आदि
- क्षेत्रीय संत साहित्य, ज्ञान परम्पराएँ और कलाएं

•

अभ्यास

भारत के प्रमुख राजा और राज्य

इतिहास में दर्ज भारत के कुछ प्रमुख राजाओं और राज्यों का विवरण यहाँ नीचे क्रमवार पांच सारिणियों में दिया जा रहा है। ये इस तरह बनाई हैं कि पिछले ढाई हज़ार वर्षों की अवधि में भारत भू-भाग के विभिन्न क्षेत्रों के राज्यों की जानकारी संक्षेप में हासिल हो सके। ढाई हज़ार वर्षों को पांच हिस्सों में (प्रत्येक 500 वर्ष की कालावधि का) बाँट कर इस प्रकार से बनाया है कि इनके बारे में कुछ बुनियादी जानकारी पाठक को मिले। इन राजाओं, उनके राज्य और उस समय के समाजों के बारे में अपनी जिज्ञासा के अनुसार अधिक जानकारी हासिल करने के लिए पाठक अवश्य ही अन्य साहित्य का अध्ययन करें, लेकिन अभ्यास के तौर पर लोकस्मृति में इनके बारे में या इनके समय के समाज के बारे में क्या है, यह जानना महत्वपूर्ण होगा। ध्यान यह रखा जाये कि लोकस्मृति वह सब संजोती है जो गुणकारी है। हमें यह जानना चाहिए कि इन राज्यों के दौरान संत दर्शन किन मूल्यों का आग्रह करता है? क्या युद्ध हमेशा अनिवार्य और निरंतर की गतिविधि रहे? इतिहास युद्धों के वर्णनों को इतना महत्त्व क्यों देता है ? क्या कोई समाज इस स्थिति में सभ्य कहा जा सकता है? क्या मनुष्य स्वभावतः हिंसक प्राणी माना जायेगा? क्या इन राजाओं के युद्ध आज के पूंजीवादी देशों के युद्धों जैसी ही मंशा रखते थे? क्या ये सब राजा क्षत्रिय थे? क्या केवल संस्कृत भाषा में ही ग्रंथों की रचना हुई? इन समाजों में पड़ोस का घर, गाँव, क्षेत्र, धर्म, जाति, देश से कैसे रिश्ते होने के संकेत मिलते हैं? जीवन, दर्शन, रहन-सहन, कला और उद्योगों के द्वारा किस तरह के ज्ञान, मूल्य और व्यवस्थाएं उजागर होती दिखती हैं? और भी कई सवाल हैं।

महत्वपूर्ण यह है कि यह अभ्यास सतत इस प्रयास से होना है जिसमें किसी भी स्थान-काल के मनुष्य समाज के वे मूल्य चिन्हित करना सीखा जा सकें जो प्रकृति और समाज को समृद्ध बनाने और अन्य मनुष्य, समाजों/संस्कृतियों/सभ्यताओं के साथ स्वायत्त, भाईचारे और बराबरी के

सम्बन्ध बनाने की ओर ले जा सकें। ज्ञान में नैतिक मूल्यों के समावेश का यही मार्ग है।

इस सारिणी में कई नाम छूटे हैं और इसको गुणों से अधिक समृद्ध कर पुनर्संगठित किया जाना है। यह एक निरंतर चलने वाली क्रिया है। एक तरह से यह एक ऐसा विकिपिडिया है जिसे इस पुस्तिका के पाठकों को स्वयं आगे बढ़कर बनाना है। इतिहास में काल गणना का आरम्भ ईसा के जन्म का समय माना जाता है। पिछले सौ-डेढ़ सौ साल की अंग्रेजी गुलामी ने हमें इसी पद्धति से काल की गणना का अभ्यस्त बना दिया है, वरना यहाँ काल गणना की अनेक पद्धतियाँ रहीं हैं और आज भी प्रचलित हैं। इसी तरह साम्राज्यवादी शक्तियों ने दुनिया के नक्शों में यूरोप और अमेरिका को हमेशा उत्तर दिशा में देखने की आदत डाल दी है। ऐसे अनेक उदहारण है। इनके प्रति लोकस्मृति कोई विद्वेष की दृष्टि नही रखती बल्कि इनके द्वारा जन्मी राजनैतिक-सांस्कृतिक मंशा को मर्यादित करने के प्रति सचेत करती है।

इस अभ्यास के दौरान भाईचारा विद्यालय के विद्यार्थी और शिक्षक यह जानने की कोशिश करेंगे कि मनुष्य समाज की किसी भी व्यवस्था की समृद्धता, (ऐसी समृद्धता जैसी प्रकृति में है) जो अनंत व स्वायत्त है; विविध ज्ञान-धाराओं के अविरल होने पर टिकी है। ये रास्ते अविरल तभी रहते हैं जब उनके स्वायत्त अस्तित्व का सम्मान हो और उनमें एकदूसरे के साथ भाईचारा हो। इससे ही मनुष्य समाज को न्यायपूर्ण बनाने के मार्ग खुलते हैं।

•

भारत के प्रमुख राज्य और राजवंश

सारिणी-1

ईसा पूर्व 600 साल से ईसा के जन्म तक

काल	उत्तर भारत	दक्षिण भारत	बंगाल–उडीसा–आसाम
600–340 साल ईसा पूर्व (ई.पू.)	**1.** 16 महाजनपद राज्य (टिप्पणी 1) **2.** नगर गणराज्य (टिप्पणी 2) **3.** बृहदृथ (700–550ईपू) हरियंक(680–424), शिशुनाग, महानंदिन राज्य (टिप्पणी 3), मगध से	**1.** पाण्ड्य (550 ईपू–1311 ई.बा.) **2.** चेर (400 ईपू–1300 ईबा) **3.** चोल (301 ईपू–240 ईबा, संगम चोल), 848–1280 ईबा)	
300 ईसा पूर्व से ईसा के जन्म तक	**1.** नंद (345–321) पाटलिपुत्र से **2.** मौर्य (320–185) '' **3.** शुंग (187–78) '' और विदिशा **4.** कण्व (73–26)	**1.** चोल (''') तंजावुर, कांचीपुरम से **2.** पाण्ड्य (''') मदुरई से **3.** चेर (''') कोयम्बटूर से **4.** मूषक (300ईपू–) एझिल से **5.** सातवाहन (230 ईपू–220 ईबा) से	**1.** कलिंग (1 या 2री सदी ईपू) **2.** खारवेल (''')

टिप्पणी :

1. **16 जनपद–** पश्चिम से पूर्व की ओर– कम्बोज, गांधार, कुरु, पांचाल, शूरसेन, मल्ल, कोसल, काशी, विदेह, मत्स्य, अवंति, चेदी, वत्स, मगध, अंग और अस्मक।

2. **नगर गणराज्य–** कपिलवस्तु, शाक्य, लिच्छवी, वैशाली, कोलियस, रामग्राम, अलाकप्पा, मोरियस, भगस आदि।

3. ईसा पूर्व को संक्षिप्त में ईपू और ईसा बाद को ईबा लिखा गया है।

सारिणी-2

ईसा बाद 0 से 600 साल

काल	उत्तर भारत	दक्षिण भारत	बंगाल–उडीसा–आसाम
ईसा के जन्म के बाद से 600 साल	1. कुषाण (30–375 ईबा) पुरुषपुर (पेशावर), मथुरा से 2. गुप्त (320–600) पाटलिपुत्र से	1. सातवाहन (230 ईपू–220 ईबा) 2. पल्लव (300–900) कांचीपुरम से 3. पश्चिम गंगा (300–900) तलक्कड, कोलार, मैसुर से 4. कदम्ब (345–525) बनवासी 5. वाकाटक (250–500) वर्धा, मन्सर, वाषिम से 6. कलचुरी (500–600) महेश्वर, जबलपुर, एलोरा	

सारिणी-3

ईसा बाद 600 से 1000 साल

काल	उत्तर भारत	दक्षिण भारत	बंगाल–उडीसा–आसाम
ई. बा. 600–1000 साल	1. हर्षवर्धन (606–647) कन्नोज से 2. तोमर (736–1192), थाणेश्वर, इन्द्रप्रस्थ से 3. प्रतिहार (800–1100) मारवाड, जैसलमेर, मालवा से 4. परमार (800–1100), धार से	1. पल्लव (300–900) कांचीपुरम से 2. पश्चिम गंगा (300–1025), तलक्कड़ से 3. मैत्रकस (470–776), वल्लभी से 4. चालुक्य बदामी (543–757), बीजापुर, वाटपी से 5. राष्ट्रकूट (753–982), मन्यकेथा, गुलबर्गा से 6. यादव (850–1332),देवगिरी (दौलताबाद) से	1. पाल (800–1200) गौड, बंगाल से 2. पाला (900–1100) कामरूप, गोहाटी से

टिप्पणी :

1. हूणों का आना
2. मोहम्मद बिन कासिम का आना 690–710 ईबा
3. मोहम्मद गज़नी का आना 971 ईबा
4. मोहम्मद गौरी का आना 1175 ईबा

सारिणी-4

ईसा बाद 1000 से 1500 साल

उत्तर भारत	दक्षिण भारत	बंगाल–उडीसा–आसाम
1. चन्देल (800–1300) महोबा से 2. परमार (800–1100), मालवा, धार से 3. कलचुरी (1000–1200) जबलपुर, गोरखपुर, चेदि से 4. गाहरवाल (900–1300) काशी, कन्नोज 5. जौनपुर सल्तनत (1394–1479) जौनपुर से 6. मालवा सल्तनत (1392–1562) धार से 7. सिसोदिया वंश (1300-1576) मेवाड़ , रणथम्भोर और चित्तोड़ से 8. गुलाम वंश (1200-1290) दिल्ली से 9. खिलजी वंश (1290-1320) दिल्ली से 10. तुगलक़ वंश (1320-1414) दिल्ली से 11. सैयद वंश (1414-1450) दिल्ली से 12. लोदी वंश (1450-1530) आगरा से	1. चालुक्य–कल्याणी (973–1156) वेंगी, बासवकल्याण से 2. होयसला (1026–1343) हलीबिडू, बेलुर से 3. कलचुरी दक्षिण (1130–1184), चेदि से 4. बाण (1190–1260), मगडियमण्डलम् से 5. काकातीय (1200–1323) वारंगल से 6. बहमनी (1347–1527), गुलबर्गा से 7. विजयनगर (1347–1527) हम्पी, बेलारी से 8. रेड्डी (1325–1448) 9. ओडियार (1399–1761) 10. गजपति (1434–1541)	1. सेन (1070–1230) 2. पूर्व गंगा (1078–1434) कलिंग से

टिप्पणी :

1. तैमूर का आना 1398–1399 ईबा

सारिणी-5

ईसा बाद 1500 से 1850 साल

उत्तर भारत	दक्षिण भारत	बंगाल–उडीसा–आसाम
1. मुगल राज (1526–1857), आगरा, दिल्ली • बंगाल के नवाब (1717–1765) • अवध के नवाब (1722–1856) • हैदराबाद के निजाम (1724–1947) 2. शेरशाह सुरी (1540–1555), 3. बुन्देल (1501–1947), झांसी से 4. गोण्ड़वाना (1500–1700), नागपुर से 5. राठौर (1240 से), बीकानेर, जोधपुर से 6. हाडा चौहान (’’)बूंदी और कोटा से 7. कछवाहा (अकबर काल), अलवर, जयपुर और मैहर से 8. सूरजमल (1755–1763), भरतपुर से 9. सिख राज (1801–1849)	1. कोचीन (1503–1964) 2. नायक (1529–1736), मदुरई से 3. बहमनी राज (1347–1527) से टूटकर बने– • कुतुबशाही (1512–1687) गोलकुण्डा से • निजामशाही (1490–1636), अहमदनगर से • आदिलशाही (1490–1686) बीजापुर से • बीदर (1489–1619) • बेरार (1490–1572) 4. मराठा (1640–1818), रायगढ़, पुणे से • कोल्हापुर भोसले (1700 से) कोल्हापुर से • सातारा भोसले (1700 से) सातारा से • तंजावुर भोसले (1700) तंजावुर से • नागपुर भोसले (1700) नागपुर से • होलकर (1700 से) इन्दौर से	1. बंगाल सल्तनत, इलियास शाह (1352–1538), सोनारगांव से 2. शेरशाह सूर (1539–1554) 3. मुगल राज (1555–1717), दिल्ली से 4. छोग्याल (1642–1947) 5. आसाम, सिक्कीम 6. बंगाल के नवाब(1717–1765)

	• सिंदिया (1700) ग्वालियर से • गायकवाड़ (1700) बडौदा से 5. हैदर अली (1761–1799), मैसुर से 6. हैदराबाद के निजाम (1724–1947) 7. त्रावणकोर (1729–1947)	

टिप्पणी :

1. अंग्रेजों का आना (17वीं सदी में आना और 1857 से 1947 तक भारत पर राज करना)

विद्या आश्रम

सा 10/82, अशोक मार्ग, सारनाथ, वाराणसी-221007

विद्याआश्रम वह स्थान है जहाँ से ज्ञान की दुनिया में लोकविद्या के लिए बराबरी का दर्जा हासिल करने का ज्ञान-आन्दोलन चलाया जाता है।

विद्या आश्रम द्वारा प्रकाशित प्रमुख साहित्य

1. लोकविद्या विचार (पुस्तक)
2. **ज्ञान की राजनीति पुस्तकमाला**
   - बौद्धिक सत्याग्रह
   - ज्ञान मुक्ति आवाहन
   - युवा ज्ञान शिविर
   - लोकविद्या
3. **लोकविद्या जन आन्दोलन पुस्तकमाला**
   - विस्थापन रोको
   - बाज़ार मोड़ो-लोकविद्या बाज़ार बनाओ
   - लोकविद्या सत्संग
   - सभी की आय पक्की, नियमित और सरकारी कर्मचारी के बराबर हो।
   - लोकविद्या की पुस्तक
   - जन संघर्ष और लोकाविद्याधर समाज की एकता
4. **लोकविद्या भाईचारा विद्यालय पुस्तकमाला**
   - टेंगरा का पैतरा
   - लोकस्मृति
5. **पत्रिकाएं**
   - लोकविद्या संवाद (16 अंक)
   - लोकविद्या पंचायत (17 अंक)
   - कारीगर नजरिया (5 अंक)

विद्याआश्रम की वेबसाइट www.vidyaashram.org पर सभी प्रकाशन उपलब्ध हैं।

•

मुखपृष्ठ चित्र के बारे में :

विशाल हाथी जगत और जीवन का प्रतीक है जिसे समझने का प्रयास अलग-अलग ज्ञान-धाराओं से जुड़े लोग/समाज/सभ्यताएं कर रहे हैं। इन विभिन्न ज्ञान-धाराओं में ऊँच-नीच ख़त्म हो और आपस में भाईचारा होने पर ही पूर्ण सत्य जानने का रास्ता खुलेगा।